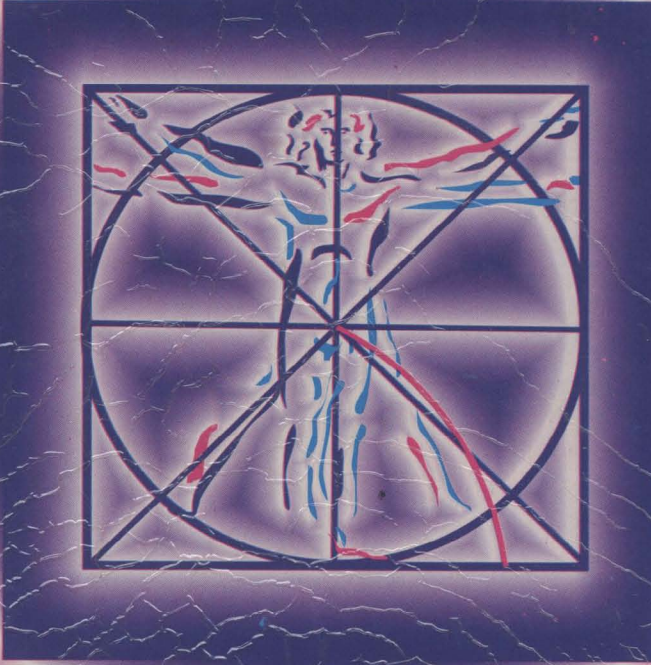


# जीवन विज्ञान सिद्धान्त और प्रयोग



आचार्य महाप्रज्ञ

# जीवन विज्ञान : सिद्धान्त और प्रयोग



# जीवन विज्ञान : सिद्धान्त और प्रयोग

(अजमेर विश्वविद्यालय द्वारा बी० ए० के पाठ्यक्रम के अन्तर्गत  
“जीवन विज्ञान और जैन विद्या” द्वितीय वर्ष के प्रथम एवं  
तृतीय पत्र के लिए स्वीकृत)

निर्देशन  
आचार्य महाप्रज्ञ

समाकलन  
मुनि धनंजय कुमार : मुनि प्रशान्त कुमार  
डॉ० संपत जैन  
प्राचार्य, एस० एस० जैन सुबोध कॉलेज, जयपुर

जैन विश्व भारती  
लाडनू-३४१३०६ (जि०, नागौर, राजस्थान)



प्रकाशक :

जैन विश्व भारती, लाडनूँ -341306 (राजस्थान)

© जैन विश्व भारती,

ISBN 81-7195-061-2

पाँचवां संस्करण : 2003

छठा संस्करण : 2008 -1100

मूल्य : 70 रुपये मात्र

मुद्रक : श्री वर्द्धमान प्रेस, नवीन शाहदरा, दिल्ली

## प्रस्तुति

शिक्षा और समाज-व्यवस्था में गहरा अनुबंध है। शिक्षा समाज-व्यवस्था के अनुरूप होकर ही समाज को लाभांन्वित कर सकती है। उसका काम है समाज-व्यवस्था को गतिशील बनाने वाले व्यक्तित्वों का निर्माण।

हिन्दुस्तान लोकतंत्रीय समाजवादी समाज-व्यवस्था का संकल्प लिए चल रहा है। लोकतंत्र का आधार है जनमत का सम्मान और समाजवादी व्यवस्था का आधार है सामाजिक न्याय। इनकी संपूर्ति के लिए आर्थिक संतुलन और तकनीकी विकास जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक है नैतिक या चारित्रिक विकास। समाजवाद की दुहाई के चार दशक बीत जाने पर भी जातिवाद, संप्रदायवाद, प्रांतीय और भाषाई अलगाववाद का दृष्टिकोण नहीं बदला है, आर्थिक विषमता में अन्तर नहीं आया है। क्या इसमें शिक्षा-प्रणाली का कोई दोष नहीं है? यदि शिक्षा के द्वारा लोकतंत्रीय मूल्यों का विकास नहीं होता है तो उसकी सार्थकता में संदेह किया जा सकता है। शिक्षा के क्षेत्र में आज संदेह का वातावरण बना हुआ है। विद्यार्थी का भविष्य क्या है? यह प्रश्न आर्थिक परिप्रेक्ष्य में भी उभरता है और वैयक्तिक जीवन के संदर्भ में भी।

मनुष्य केवल सामाजिक नहीं है और वह केवल व्यक्ति भी नहीं है। वह संबंधों के कारण सामाजिक है और जन्मजात वैयक्तिकता (नेटिव इण्डिविज्वेलिटी) के कारण व्यक्ति है। शिक्षा में सामाजिक और वैयक्तिक- दोनों पहलुओं का समन्वय आवश्यक है। इसके द्वारा ही आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक मूल्यों का सामंजस्य पूर्ण विकास किया जा सकता है।

जीवन-विज्ञान मूल्यपरक शिक्षा की समन्वयात्मक प्रयोग-पद्धति है। उसमें सोलह मूल्य निर्धारित किए गए हैं। उनका वर्गीकरण इस प्रकार है-

१. सामाजिक मूल्य- (१) कर्तव्यनिष्ठा (२) स्ववलम्बन।
२. बौद्धिक-आध्यात्मिक मूल्य (३) सत्य, (४) समन्वय,  
(५) सम्प्रदाय निरपेक्षता (६) मानवीय एकता
३. मानसिक मूल्य- (७) मानसिक संतुलन (८) धैर्य।
४. नैतिक मूल्य- (९) प्रामाणिकता, (१०) करुणा  
(११) सह-अस्तित्व।
५. आध्यात्मिक मूल्य- (१२) अनासक्ति, (१३) सहिष्णुता,  
(१४) मृदुता (१५) अभय,  
(१६) आत्मानुशासन।

## जीवन विज्ञान : सिद्धान्त और प्रयोग

केवल सिद्धांत-बोध के द्वारा विद्यार्थी अपनी अस्मिता को पहचान सके और सामाजिक न्याय के प्रति समर्पित हो सके, यह कम संभव है। इसके लिए सिद्धांत और प्रयोग-दोनों का समन्वय आवश्यक है।

आचार्य तुलसी ने अणुव्रत की आचार-संहिता के माध्यम से अच्छे नागरिक का प्रारूप समाज के सामने रखा था। जीवन-विज्ञान उसकी क्रियान्विति का प्रयत्न है। इसका उद्देश्य है-

- (१) बौद्धिक और भावनात्मक विकास का संतुलन।
- (२) विवेक और संवेग में सामंजस्य।
- (३) वैयक्तिकता और सामाजिकता में सामंजस्य।
- (४) मानवीय सम्बन्धों में परिवर्तन।
- (५) नैतिक मूल्यों का विकास।
- (६) आत्मानुशासन की क्षमता का विकास।
- (७) मानवीय समस्या के प्रति संवेदनशीलता का विकास।

स्वामी विवेकानन्द ने शताब्दी पूर्व कहा था-अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय होना चाहिए। आचार्य विनोबा भावे इस अपेक्षा को बार-बार दोहराते रहे। जीवन-विज्ञान में इस अपेक्षा की पूर्ति की गई है।

जीवन-विज्ञान की पृष्ठभूमि में व्यक्ति और समाज-दोनों को संतुलित मूल्य दिया गया है। समाज के संदर्भ से कटा हुआ व्यक्ति रामभेड़िया बन सकता है, दार्शनिक और वैज्ञानिक नहीं बन सकता। व्यक्तिगत क्षमता के बिना वह विद्यालय का जीवन जीकर भी बौद्धिक विकास नहीं कर सकता। सामाजिक और वैयक्तिक दोनों अस्मिताओं का योग होने पर ही पूर्ण व्यक्तित्व विकसित होता है।

व्यक्तिगत जीवन स्वयंकृत कर्म के द्वारा निर्मित होता है। प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने कर्म के अनुरूप शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, स्वास्थ्य, आयु और सुखानुभूति प्राप्त करता है। हम कर्म-संस्कार को छोड़कर व्यक्तित्व की सही व्याख्या नहीं कर सकते।

सामाजिक जीवन संबंधों के द्वारा निर्मित होता है। संबंध का पहला सेतु है आनुवंशिकता (हेरिडिटी, जीन और क्रोमोसोम)। प्राणी अपने माता-पिता के संस्कार प्राप्त करता है, वातावरण और परिस्थिति से सीखता है। इसलिए सामाजिक संदर्भ के बिना भी व्यक्तित्व की पूर्ण व्याख्या नहीं की जा सकती।

हमारे व्यक्तित्व के दो पहलू हैं- सामाजिक और वैयक्तिक। जो वातावरण से प्रभावित है, वह सामाजिक है और जो कर्म-संस्कार से प्रभावित है, वह वैयक्तिक है। इन दोनों पहलुओं का संतुलन बनाए रखने के लिए कर्मवाद और परिस्थितिवाद,

अध्यात्म और विज्ञान दोनों का अध्ययन आवश्यक है। साथ-साथ कर्म-संस्कार का परिष्कार और परिस्थिति का परिवर्तन भी आवश्यक है।

कर्म-संस्कार के परिष्कार का उपाय है भावशुद्धि और व्यवहारशुद्धि। व्यवहारशुद्धि के तीन रूप बनते हैं-

१. संयमपूर्ण व्यवहार।
२. प्रामाणिक व्यवहार-नैतिकता।
३. मृदु व्यवहार।

मनुष्य में राग या आसक्ति का आवेश है, इसलिए वह असंयमपूर्ण व्यवहार करता है। उसमें लोभ का आवेश है, इसलिए वह अप्रामाणिक व्यवहार करता है। उसमें क्रोध और अहंकार का आवेश है, इसलिए वह क्रूर व्यवहार करता है। अवांछनीय व्यवहार का मूल हेतु है आवेश। जैसा आवेश वैसा व्यवहार-यह कर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण है। जैसा रसायन वैसा व्यवहार-यह मानसशास्त्रीय दृष्टिकोण है। उसके अनुसार व्यवहार के नियंत्रण-सूत्र नाडीतंत्रीय और ग्रंथितंत्रीय रसायन है। वे बदलते रहते हैं और उन्हें बदला जा सकता है। उन्हें बदलने का आध्यात्मिक सूत्र है- भावशुद्धि। जैसा भाव वैसा रसायन। भाव शुद्ध तो रसायन शुद्ध, भाव अशुद्ध तो रसायन भी अशुद्ध। भाव का स्रोत सूक्ष्म शरीर है। रसायन हमारे स्थूल शरीर में पैदा होते हैं। मानवीय व्यवहार की व्याख्या का आदि-सूत्र है कर्म का स्पन्दन। उसके दृश्य सूत्र हैं जैविक रसायन और जैविक-विद्युत्। इस शृंखला में कर्म-स्पन्दन भाव का, भाव जैविक रसायन का, जैविक रसायन विचार और व्यवहार का कारण बनता है।

कर्म-संस्कार के संचय का कारण है विचार और व्यवहार। विचार की एकाग्रता और व्यवहार की शुद्धि की प्रणाली सिखाने पर पचास प्रतिशत शिक्षा सम्पन्न हो जाती है। शेष पचास प्रतिशत शिक्षा का क्षेत्र है बौद्धिक और कर्म-कौशल (टेक्नोलोजी) का विकास।

तथ्यों का ज्ञान, देश और समाज के प्रति कर्तव्य का बोध, बौद्धिक शिक्षा के द्वारा हो सकता है। किन्तु आवेश-नियंत्रण की प्रायोगिक शिक्षा के बिना कर्तव्य का सही रूप में पालन शक्य नहीं बनता। सामाजिक और आर्थिक विकास तकनीकी ज्ञान के द्वारा संभव हो सकता है पर उससे आर्थिक विषमता वाली व्यवस्था का परिवर्तन शक्य नहीं बनता। उसके लिए उस शिक्षा की जरूरत है, जो व्यक्ति को समाज के प्रति संवेदनशील बनाए, सृजनात्मक दृष्टिकोण का निर्माण करे।

आज के विद्यार्थी को व्यवहार-शुद्धि का पाठ नहीं पढ़ाया जाता, इसलिए वह समाज के साथ सामंजस्य स्थापित करने में सफल नहीं हो रहा है। उसे श्रमनिष्ठा का पाठ नहीं पढ़ाया जाता, इसलिए वह अपनी आर्थिक समस्या सुलझाने में सक्षम नहीं हो

रहा है। उसे नैतिकता का पाठ नहीं पढ़ाया जाता, इसलिए वह अपने राष्ट्रीय दायित्वों और कर्तव्यों का पालन नहीं कर पा रहा है।

नई शिक्षा-नीति के परिपार्श्व में शिक्षा के आमूलचूल परिवर्तन के स्वर उभर रहे हैं। केवल पढ़ाने की प्रणाली बदलने से आमूलचूल परिवर्तन नहीं होगा। उसके लिए शिक्षा के स्वरूप को बदलना आवश्यक है। उस स्वरूप की प्रतिष्ठा अपेक्षित है, जिसमें बौद्धिक विकास, व्यवहार शुद्धि या नैतिकता, श्रमनिष्ठा और दायित्वबोध-इन सबकी समन्विति फलित हो सके।

शिक्षा के बारे में भारतीय चिंतन अभी स्वस्थ नहीं है। बड़े-बड़े लोगों का स्वर है कि हमारी शिक्षा-प्रणाली गलत है। यह स्वर अनगिन बार पुनरुच्चारित हुआ है, पर अभी कोई समाधान नहीं निकल पाया है। हमारी दृष्टि में यह ठीक नहीं है। शिक्षा-प्रणाली गलत है, उसकी अपेक्षा यह कहना उचित होगा कि शिक्षा प्रणाली अपर्याप्त है। उसमें बौद्धिक विकास पर अधिक बल दिया गया है, भावात्मक विकास की अपेक्षा की गई है। यह असंतुलन ही सिरदर्द बना हुआ है। अनुशासन, चरित्र-विकास तथा अपराधी मनोवृत्ति के परिवर्तन के लिए बौद्धिक विकास की अपेक्षा भावात्मक विकास अधिक मूल्यवान् है।

प्रस्तुत पुस्तक में जीवन-विज्ञान शिक्षा और समाज के संदर्भ में चर्चित है। व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए इस चर्चा की उपयोगिता बुद्धिगम्य होगी। मुनि धनंजयकुमार, मुनि प्रशांतकुमार एवं प्राचार्य संपत जैन ने प्रस्तुत पुस्तक को बी० ए० के विद्यार्थियों के लिए समाकलित किया है। 'सा विद्या या विमुक्तये' का सूत्र विमुक्ति का नया भाष्य प्रस्तुत कर सकेगा, ऐसा मेरा संकल्प है।

१५ अगस्त '९२  
जैन विश्व भारती  
लाडनू

**आचार्य महाप्रज्ञ**

## संपादकीय

मनुष्य जैसा है, वैसा ही रहना नहीं चाहता। वह विकास चाहता है, परिष्कार चाहता है। विकास का एक साधन है शिक्षा। विकास के साथ अनेक समस्याएं भी जुड़ी हुई हैं। आज शिक्षा ने विकास के अनेक नए आयाम छुए हैं, लेकिन कुछ आयाम अभी भी अनछुए जैसे हैं। शिक्षा सर्वांगीण विकास के लिए है। किन्तु वह व्यक्ति सर्वांगीण विकास कर नहीं पा रहा है। इसका कारण यह नहीं है कि शिक्षा-पद्धति गलत है, किन्तु इसका कारण शिक्षा का अधुरापन है! आज शिक्षा से अच्छे वकील, डाक्टर, इंजीनियर और वैज्ञानिक प्रतिभाएं प्रस्फुटित हो रही हैं लेकिन नैतिक एवं चारित्रिक मूलों से अनुप्राणित व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पा रहा है। आज की शिक्षा में इन मूल्यों के विकास की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। उसमें बौद्धिक एवं शारीरिक विकास की संभावनाएं हैं पर मानसिक एवं भावात्मक विकास की संभावनाएं बहुत नहीं हैं। जीवन विज्ञान इस संभावना को साकार करने वाला उपक्रम है। यह नैतिक एवं चारित्रिक मूल्यों के विकास की पद्धति है, मानसिक एवं भावात्मक विकास का प्रायोगिक उपक्रम है। अजमेर विश्वविद्यालय ने इसे बी० ए० के पाठ्यक्रम में शिक्षा की स्वतंत्र शाखा के रूप में स्वीकार कर इसकी उपयोगिता का मूल्यांकन किया है।

प्रस्तुत पुस्तक 'जीवन विज्ञान : सिद्धान्त और प्रयोग' बी० ए० के विद्यार्थियों के लिए तैयार की गई है। युवाचार्यश्री मज्ञप्रज्ञ द्वारा जीवन विज्ञान के संदर्भ में जो आधार-भूत चिन्तन-मंथन किया गया है, हमने उसका समाकलन मात्र किया है। प्रस्तुत पुस्तक के समाकलन में मनि श्री दुलहराज जी एवं मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी की सक्रिय प्रेरणा रही है। जीवन विज्ञान के प्रयोग-पक्ष की कुछ सामग्री प्रेक्षाध्यान : आसन-प्राणायाम एवं यौगिक क्रियाएं पुस्तक से ली गई हैं। हम इनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता का भाव व्यक्त करते हैं। जैन विश्व भारती इंस्टीट्यूट ने इसे बी० ए० के विद्यार्थियों के लिए प्रकाशित किया है। हमारा विश्वास है- बी० ए० में अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के लिए प्रस्तुत पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी। यह विद्यार्थियों में विकास की ही नहीं, परिष्कार की चेतना भी जगा पाएगी।

२१ अगस्त '९२  
जैन विश्व भारती  
लाडनू

मुनि धर्नजय कुमार  
मुनि प्रशांत कुमार  
डॉ० संपत जैन





# अनुक्रम

## खण्ड-अ जीवन विज्ञान और व्यक्तित्व निर्माण

१. जीवन विज्ञान : स्वरूप और आवश्यकता ३-१२
- शिक्षा का अर्थ ३, यक्ष प्रश्न ३, वर्तमान शिक्षा : अधूरी प्रक्रिया ४, वर्तमान शिक्षा की निष्पत्ति ५, असंतुलन शिक्षा प्रणाली का ५, विपर्यास का निदर्शन ५, व्यर्थ है आरोपण ६, जीवन विज्ञान की परिकल्पना ७, प्राणधारा का संतुलन ७, जैविक संतुलन ७, क्षमता की आस्था का जागरण ८, त्रिआयामी परिष्कार ९, उपादान का परिष्कार १०, जीवन विज्ञान : मस्तिष्कीय परिष्कार ११
२. जीवन विज्ञान : आधार और प्रक्रिया १३-२१
- शरीर तंत्र का प्रशिक्षण १३, सेतु है श्वास १३, वाणी : सामाजिकता का माध्यम १४, मन १५, समस्या सहायक की १४, जीवन विज्ञान का आधार तत्त्व : प्रशिक्षण १६, प्रशिक्षण की प्रक्रिया १७, प्रत्यक्षीकरण श्वास का १७, प्रत्यक्षीकरण शरीर का १८, प्रत्यक्षीकरण चैतन्य केन्द्रों का १९, अनुप्रेक्षा १९, कायोत्सर्ग २०, जागरूकता २१
३. शिक्षा की समस्याएं २२-४०
- विकास का प्रश्न २२, स्वाभाविक प्रक्रिया २२, संभावनाओं का द्वार : संतुलन २३, वर्तमान शिक्षा : जीवन की उपेक्षा २४, भीतर है बदलाव का बिन्दु २४, मन और प्राणशक्ति की उपेक्षा २५, संरक्षण प्राणशक्ति का २६, अनियन्त्रित काम : पागलपन का कारण २६, दुष्परिणाम असंतुलन के २७, सहिष्णुता का विकास २८, सहिष्णुता : शरीर सिद्धि की प्रक्रिया २९, प्रक्रिया पारदर्शन की २९, जीवन विज्ञान : आत्म संयम का प्रशिक्षण ३०, जीवन विज्ञान शक्ति का जागरण ३१, जीवन विज्ञान : आज की अपेक्षा ३१, प्राणी का कर्तव्य ३२, ज्ञाता से अज्ञात ३३, अनुभव अधूरेपन का ३४, बुद्धि के परिणाम ३५, तरंग भावों के तट की ३६, समाधान में बाधाएं ३६, मूल्य शिक्षा और आत्मानुशासन का ३७, समाधान का बिन्दु ३८, संयुक्त प्रयास ३९, पहेली सुलझ सकती है ३९

#### ४. जीवन विज्ञान-शिक्षा की अनिवार्यता

४१-५५

अध्यात्म की शिक्षा का प्रश्न ४१, अध्यात्म का अर्थ ४१, शिक्षा के साथ जीवन विज्ञान क्यो? ४२, शस्त्र की नयी व्याख्या ४३, शस्त्र : अध्यात्म की भाषा में ४४, शस्त्र है 'भाव' ४५, अविरति ४५, शांतिपूर्ण जीवन के लिए जीवन विज्ञान ४६, मुक्ता खो गई ४७, उदासीनता अनुशासन के प्रति ४८, स्वनिर्भरता की आस्था ४८, अपने से अपनी चिकित्सा का सिद्धांत ४९, आत्मानुशासन का विज्ञान ४९, शरीर और मन : पारस्परिक प्रभाव ५०, महत्त्वपूर्ण खोजें मन को साधने की ५१, विपरीत अभिनिवेश ५२, विवशता आत्मानुशासन की ओर लौटने की ५३, प्रभाव ही प्रभाव ५४

#### ५. स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण

५६-८०

विवेक चेतना : स्वतंत्र व्यक्तित्व की पहचान ५६, प्राणशक्ति का विकास : एक महत्त्वपूर्ण खोज ५७, प्राणशक्ति और श्वास ५७, जीवन है प्राण ५८, तीन महत्त्वपूर्ण केन्द्र ५९, अन्तर्दृष्टि का विकास ५९, अलौकिक है अन्तर्दृष्टि का व्यवहार ६०, अनिवार्य है आध्यात्मिक प्रशिक्षण ६१, प्रयोग के स्तर पर ६१, नियंत्रण हो नियंत्रण कक्ष पर ६२, क्या हम स्वतंत्र हैं? ६३, बदलाव का बिन्दु ६४, धार्मिक होने का अर्थ ६५, बदलना हमारे हाथ में है ६६, बदलाव के सूत्र ६६, प्राणशक्ति का अपव्यय न हो ६७, बदलने का दूसरा सूत्र ६७, भावना का प्रयोग ६८, निर्णय का आधार ६९, सहिष्णुता का प्रयोग ७०, शक्ति को निर्माणात्मक शक्ति में बदलने का प्रयोग ७१, संकल्प की सफलता ७२, आन्तरिक परिवर्तन के दो सूत्र ७२, मन का शोधन ७३, तीन तत्त्व : मानसिक जगत् ७३, जीवन विज्ञान : अगला कदम ७४, विस्मृति का रोग ७५, चिकित्सा हो प्राणशक्ति की ७५, भीतर की शक्ति ७६, भीतर भी देखें बाहर भी देखें ७७, प्रयोग करें : प्रकाश करें ७७, यथार्थ का निरूपण ७८, जीवन विज्ञान : उपलब्धियाँ ७९

#### ६. जीवन विज्ञान और सामाजिक जीवन

८१-९२

जीवन की दो पद्धतियाँ ८१, आस्था बदले ८२, वैज्ञानिक पद्धति ८३, चेतना के रूपान्तरण का परिणाम ८३, ध्यान के परिणाम : समाज के सन्दर्भ में ८५, सामाजिक समता की दृष्टि ८५, जीवन

शैली में बदलाव ८६, शुद्ध साधनों के प्रति आस्था ८७, सामाजिक जीवन का आधार ८७, १. अस्तित्व सत्य ८८, २. नियम सत्य ८८, ३. ऋतुजा सत्य ८९, ४. अविस्वादिता सत्य ९०, ५. प्रामाणिकता सत्य ९१

## खण्ड-ब जीवन विज्ञान : शिक्षा का नया आयाम

### २.१ शिक्षा का नया आयाम : जीवन विज्ञान १५-१०५

सामाजिकता का आधार : परस्परता ९५, सामाजिकता का शत्रु : स्वार्थ ९५, परस्परता की शृंखला ९६, दूसरा घटक : संवेदन-शीलता ९६, जीवन विज्ञान : परिष्कार की प्रक्रिया ९७, परिष्कार के तत्त्व ९८, मूल तत्त्व की विस्मृति ९८, स्वामित्व का समाजीकरण ९९, स्वामित्व का सीमा बोध ९९, भोग-उपभोग की सीमा १००, स्वतंत्रता की सीमा १००, कोरी बौद्धिक शिक्षा के परिणाम १०१, जीवन-विज्ञान : समन्वित शिक्षा पद्धति १०१, जीवन विज्ञान : जीवन से जुड़ी शिक्षा १०२, जीवन : विज्ञान : कमी की सम्पूर्ति १०३, आवश्यकता है आंख की १०४, शिक्षा जगत को दिशादर्शन १०५

### २.२ शिक्षा और भावात्मक परिवर्तन १०६-११४

दैहिक विकास १०६, इन्द्रिय विकास १०७, मानसिक विकास १०७, बौद्धिक विकास १०७, भावात्मक विकास १०९, जरूरी है उपायज्ञ होना १११, अनासक्ति का प्रयोग १११, अभ्यास से बनते हैं संस्कार १११, अभ्यास परिपक्वता के लिए तीन तत्त्व ११२, संकल्प परिपक्वता के लिए आलंबन ११२, यात्रा अनुभूति के स्तर पर ११३, रूपान्तरण की प्रक्रिया के तीन घटक ११४

### २.३ शिक्षा और नैतिकता ११५-१२१

नैतिकता के आधार ११५, नैतिकता के स्रोत ११५, परिवर्तन के हेतु ११६, नैतिकता का उपाय : शरीर बोध ११६, हिपोक्रेट्स का मत ११७, स्वभाव का हेतु ११७, समीक्षा का दायरा ११८, आशा की किरण ११८, दैहिक अनुशासन ११९, आस्था की समस्या ११९, शिक्षा जगत् की कठिनाई १२०, रूपान्तरण के केन्द्र १२१

### २.४ शिक्षा और जीवन मूल्य १२२-१२९

मूल्यों का वर्गीकरण १२२, मूल्य बोध की चेतना जागे १२३, मूल्यों

की उपेक्षा : परिणाम १२३, मूल्य है अपना-अपना १२४, मानसिक सन्तुलन का प्रश्न १२५, ज्ञान और आचार १२६, जीवन विज्ञान : धर्म की परिभाषा १२६, व्यवहार का महत्व १२७, दायित्व चेतना १२७, सामंजस्य पूर्ण जीवन १२८, ग्रहणशीलता का विकास १२८

## २.५ शिक्षा और मुक्ति की अवधारण १३०-१३७

मुक्ति वर्तमान क्षण में १३०, मुक्ति : व्यापक संदर्भ १३०, आज की समस्या १३१, साक्षरता और संस्कार १३२, ज्योति का प्रज्वलन १३२, अज्ञान : भारतीय दर्शन की अवधारणा १३३, इच्छाओं पर नियंत्रण १३३, संवेग : समस्या का कारण १३४, शासन प्रणाली बदलना ही पर्याप्त नहीं १३५, कोर्स पूरा नहीं है १३५, शिक्षा की सार्थकता : व्यावहारिक सामंजस्य १३६

## खण्ड-स जीवन विज्ञान : स्वस्थ समाज रचना का संकल्प

### ३.१ संवेग-संवेद और नियंत्रण की पद्धति १४१-१५३

असंतुलित संवेग : आपराधिक वृत्तियाँ १४१, ऑब्जेक्ट की स्मृति : सब्जेक्ट की विस्मृति १४२, शिक्षा का उद्देश्य १४२, सर्वांगीण विकास के घटक तत्त्व १४३, मस्तिष्कीय परिवर्तन के प्रयोग १४४, ग्रन्थि तंत्र का संतुलन १४५, रंगों का प्रभाव १४६, विधायक दृष्टिकोण १४७, सतत क्रिया : संवेद संवर्द्धन १४८, विकास का मार्ग १४९, परिणाम दर्शन १५०, दीर्घश्वास के प्रयोग १५१, विज्ञान और अध्यात्म : निष्पत्ति एक है १५१, नई दिशा १५२

### ३.२ मूल्य परक शिक्षा : सिद्धांत और प्रयोग १५४-१६२

मूल्य बोध : प्रयोग १५४, अपेक्षित है अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय १५५, भाव और व्यवहार १५६, अणुव्रत स्टोर १५७, मूल्य विकास : दो पद्धतियाँ १५७, मूल्यपरक शिक्षा १५८, व्यवहार परिवर्तन के प्रयोग १५९, समाज है शिक्षा का प्रतिबिंब १६०, शिक्षा का आधार १६१

### ३.३ विधायक भाव १६३-१७२

विधायक भाव जागे १६३, जिम्मेवार कौन? १६४, विधायक भाव की निष्पत्ति १६४, चिन्तन का कोण १६५, मानसिक समस्याओं का प्रश्न १६६, काल्पनिक समस्याएं १६७, परिवर्तन का सूत्र १६७,

ध्यान की शिक्षा का उद्देश्य १६८, रस के स्त्राव १६९, विचारों का असंतुलन १६९, स्त्राव : परिवर्तन का उपाय १७०, वर्तमान में जीने का प्रयोग १७१

**३.४ जीवन विज्ञान : मस्तिष्क प्रशिक्षण की प्रणाली १७३-१८१**

शीघ्र अधिगम की पद्धति १७५, संस्कार परिवर्तन की प्रणाली १७६, जीवन विज्ञान का अभ्युपगम १७७, समन्वित विकास १७७, ग्रहण क्षमता का विकास १७८, तनाव मुक्ति १७९, श्वास की स्मृति १७९, जीवन विज्ञान पद्धति के मुख्य प्रयोग १८०

**३.५ जीवन विज्ञान : सर्वांगीण व्यक्तित्व विकास का संकल्प १८२-१८९**

तन्त्र के संतुलन का प्रयत्न १८२, शिक्षा जगत की समस्याएं १८३, समाधान है जीवन विज्ञान १८५,

**३.६ जीवन विज्ञान : स्वस्थ समाज रचना का संकल्प १९०-१९७**

समाज रचना के आधार १९०, वर्तमान स्थिति १९०, मनुष्य जाति एक है १९१, अहिंसा के संस्कार १९२, अहिंसा की आस्था १९२, आस्था मनुष्य जाति की एकता में १९३, घृणा और क्रूरता १९४, ढाई आखर प्रेम का १९५, प्रश्न है पल्लवन का १९५, आस्था का निर्माण किया जाए १९६

**खण्ड-द जीवन विज्ञान : प्रायोगिक २०१-२१९**

तृतीय पत्र-प्रायोगिक पाठ्यक्रम

अभ्यास प्रथम : प्रेक्षाध्यान

शरीर प्रेक्षा, चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा, विवेक के केन्द्र और वासना के केन्द्र, विधि, प्रयोग

अभ्यास द्वितीय : प्राणायाम

पुनरावर्तन, उज्जाड़ प्राणायाम, शीतली प्राणायाम, भ्रामरी प्राणायाम

अभ्यास तृतीय : यौगिक क्रियाएं

स्वभाव परिष्कार के लिए मेरुदण्ड की क्रियाएं, मेरुदण्ड की क्रियाएं



खण्ड-अ

जीवन विज्ञान और व्यक्तित्व निर्माण





## जीवन विज्ञान : स्वरूप और आवश्यकता

मनुष्य आदिकाल से अब तक क्रमिक विकास करता आ रहा है। उसमें विकास की तीन वृत्तियाँ उपलब्ध हैं- जिज्ञासा, बुभूषा और चिकीर्षा।

मनुष्य में जिज्ञासा है। वह प्रतिदिन नए-नए तथ्य जानना चाहता है।

उसमें बुभूषा है। वह कुछ होना चाहता है। वह अपने आपको बदलना चाहता है। वह जैसा है, वैसा ही रहना नहीं चाहता।

मनुष्य बनना चाहता है, कुछ होना चाहता है और कुछ करना चाहता है। इन तीन वृत्तियों ने विकास-क्रम को आगे बढ़ाया है। आज विकास का क्रम बहुत ऊँचे शिखर तक पहुँचा हुआ है और विकास के लिए उसने माध्यम बनाया है शिक्षा को।

### शिक्षा का अर्थ

शिक्षा प्रत्येक विकास की अधिष्ठात्री रही है। शिक्षा का मूल अर्थ है अभ्यास। आज यह अर्थ विस्मृत हो गया है। आज शिक्षा का अर्थ है अध्ययन। अभ्यास दो प्रकार का होता है- ग्रहणात्मक अभ्यास और आसेवनात्मक अभ्यास। पहले ग्रहण करो, जानो और फिर उसका आसेवन करो, प्रयोग करो। शिक्षा इन दो चरणों में चलती थी। शिक्षा का पहला चरण था 'ग्रहण' और दूसरा चरण था 'आसेवन'। जानना भी शिक्षा है, पर जानना मात्र ही शिक्षा नहीं है। आसेवन भी शिक्षा है और यह शिक्षा का महत्वपूर्ण अंग है। धर्म की शिक्षा-प्राप्ति के लिए भी यही क्रम है और बौद्धिक शिक्षा प्राप्ति के लिए भी यही क्रम है।

### यक्ष प्रश्न

आज धर्मजगत के समक्ष एक प्रश्न रह-रहकर उभर रहा है। वह प्रश्न है, आज धर्म का असर क्यों नहीं हो रहा है?

आदमी जानता है कि दिल्ली कितनी दूर है पर जब तक उस ओर प्रस्थान नहीं करता, वह दिल्ली कैसे पहुँच सकता है? दिल्ली पहुँचने के लिए

उसे उस दिशा में चलना होगा।

लोग धर्म को जानते हैं पर जब तक उसके नियमों पर नहीं चलेंगे, उस ओर प्रस्थान नहीं करेंगे, तब तक धर्म का असर कैसे होगा?

आदमी शराब के घंट मुंह में लेता है और थक देता है। गले के नीचे एक बूंद भी नहीं उतारता, यदि वह पूरा घड़ा भी इस तरह खाली कर दे तो उसे नशा नहीं आएगा। धर्म करने वाले लोग धर्म को अगर गले से नीचे नहीं उतारते, ऊपर ही ऊपर उसे थूक देते हैं तो धर्म का प्रभाव कैसे हो सकता है? धर्म का नशा कैसे चढ़ सकता है?

### वर्तमान शिक्षा : अधूरी प्रक्रिया

आज शिक्षा का प्रभाव नहीं हो रहा है क्योंकि उसकी प्रक्रिया पूरी नहीं हो रही है। शिक्षा की पूरी प्रक्रिया है-ग्रहण करो फिर उसका आसेवन करो, जीवन में उतारो। जानो और प्रयोग करो। आज यह आसेवन की बात छूट-सी गई है।

पतञ्जलि से पूछा गया- चित्त का निरोध कैसे होता है?

उन्होंने कहा- चित्त निरोध के दो उपाय हैं-अभ्यास और वैराग्य।

अर्जुन ने कृष्ण से पूछा- मन का निरोध कैसे हो सकता है?

कृष्ण ने कहा-पार्थ! अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मनोनिग्रह साधा जा सकता है।

आज अभ्यासात्मक शिक्षा छूट गई, ज्ञानात्मक शिक्षा बच गई। शिक्षा का एक चरण टूट गया। वह लंगड़ी हो गई इसलिए शिक्षा का जो परिणाम आना चाहिए था, वह नहीं आ रहा है। मनुष्य की तीनों वृत्तियों- जिज्ञासा, बुभूषा और चिकीर्षा का माध्यम है शिक्षा। जिज्ञासा का समाधान शिक्षा के द्वारा होता है। बुभूषा और चिकीर्षा का समाधान भी शिक्षा के द्वारा होता है। दूसरे शब्दों में, करने का कौशल शिक्षा से प्राप्त होता है। होने या बदलने का पराक्रम भी शिक्षा के द्वारा प्राप्त होता है और जानने का माध्यम भी शिक्षा से ही प्राप्त होता है। जिज्ञासा, बुभूषा और चिकीर्षा के क्षेत्र को भी जानना आवश्यक है। जानने का क्षेत्र क्या है? होने और करने का क्षेत्र क्या है? हम क्षेत्र पर विचार करें। किसी भी वस्तु या तथ्य पर विचार करते समय देश (क्षेत्र) और काल पर भी विचार करना होता है। देश और काल को छोड़कर हम किसी भी वस्तु की मीमांसा नहीं कर सकते।

## वर्तमान शिक्षा की निष्पत्ति

शिक्षा के चार आयाम हैं—शारीरिक विकास, मानसिक विकास, बौद्धिक विकास और भावनात्मक विकास। इन चारों में व्यक्तित्व-निर्माण से संबंधित सभी विकास समाविष्ट हैं। इस संदर्भ में हम वर्तमान शिक्षा-प्रणाली पर विमर्श करें। हम यह सोचें कि वर्तमान में प्रचलित शिक्षा का क्रम कैसा है? शिक्षा की प्रणाली कैसी है? आज की शिक्षा-प्रणाली को दोषपूर्ण कहना संगत नहीं लगता। जो चल रही है, वह अपने आप में कृतकृत्य है। हम किसी भी वस्तु को दोष या गुण के माध्यम से समीक्षित करना चाहें तो हमें परिणाम और निष्पत्ति पर विचार करना ही होगा। आज शिक्षा की जो निष्पत्तियां प्रत्यक्ष हो रही हैं, उन्हें देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि आज की शिक्षा कोई फल नहीं दे रही है। जिस विषय की आज शिक्षा दी जा रही है, उसकी निष्पत्तियां आ रही हैं। आज अच्छे डाक्टर, अच्छे वकील, अच्छे इंजीनियर, अच्छे शिक्षक अपने-अपने विषय में निष्णात होकर समाज में आ रहे हैं। इस स्थिति में हम कैसे मानें या कहें कि शिक्षा-प्रणाली दोषपूर्ण है, त्रुटिपूर्ण है? जब निष्पत्तियां ठीक हैं तो हम कैसे स्वीकार करें कि शिक्षा सही नहीं है? फिर प्रश्न होता है कि शिक्षा की समस्या क्या है?

## असंतुलन शिक्षा प्रणाली

हमारी शिक्षा-प्रणाली संतुलित नहीं है। संतुलित शिक्षा-प्रणाली वह होती है जिसमें व्यक्तित्व के चारों आयाम संतुलित रूप से विकसित होते हैं। शरीर का विकास भी अपेक्षित है, मन का विकास भी अपेक्षित है, बुद्धि और भावना का विकास भी अपेक्षित है। आज की शिक्षा में इन चार आयामों में से दो आयामों पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। वे दो आयाम हैं— शारीरिक विकास का आयाम और बौद्धिक विकास का आयाम। शेष दो आयाम अपेक्षित पड़े हैं। आज शारीरिक विकास बहुत हुआ है और बौद्धिक विकास भी प्रतिदिन बढ़ रहा है किन्तु मानसिक विकास और भावनात्मक विकास नहीं हो रहा है। शिक्षा-प्रणाली का यह असंतुलन है। इस असंतुलित शिक्षा-प्रणाली की निष्पत्तियां क्या हैं, इस पर भी हम विचार करें।

## विपर्यास का निदर्शन

आज शिक्षा-संस्थानों के समक्ष भी अनेक समस्याएं हैं। प्राथमिक स्कूलों

की समस्याएं कम हैं, किन्तु कॉलेज और विश्वविद्यालय की समस्याएं अधिक हैं। जैसे-जैसे बौद्धिक विकास बढ़ता चला जाता है, वैसे-वैसे समस्याएं उग्र होती चली जाती हैं। इस स्थिति में हम विद्यार्थियों से अनुशासन की अपेक्षा कैसे कर सकते हैं? विद्यार्थी में अनुशासन आए, यह शिक्षा-संस्थान की अपेक्षा है, परिवार वालों की भी अपेक्षा है। विद्यार्थी में चरित्र का विकास हो, यह सबकी अपेक्षा है। शिक्षा-संस्थान, परिवार, समाज और राष्ट्र सब की अपेक्षा है। समाज को चरित्र-विकास की अधिक अपेक्षा है। हम शिक्षा से चरित्र का विकास, अनुशासन का विकास, संयम और सहिष्णुता का विकास चाहते हैं किन्तु ये निष्पत्तियां नहीं आ रही हैं। जो निष्पत्तियां आ रही हैं, वे हैं तोड़फोड़ की, हिंसक उपद्रवों की और उद्वेगता की। उसका कारण बहुत स्पष्ट है कि विद्यार्थी के मानसिक और भावनात्मक विकास के लिए, शिक्षा के पास कुछ भी देने को नहीं है। आज स्कूलों में शारीरिक व्यायाम कराने वाले अध्यापक मिलेंगे, आसन कराने वाले मिलेंगे और बौद्धिक विकास की प्रचुर सामग्री देने वाले अध्यापक मिलेंगे, किन्तु मानसिक विकास और भावनात्मक विकास कराने वाला एक भी नहीं मिलेगा। न तो आज की सरकार इस विकास की चिन्ता करती है और न आज की शिक्षा-प्रणाली में ऐसी विद्या भी है, जिससे यह अपेक्षा पूरी हो सके। हम बीज बोते नहीं, पर परिणाम की आकांक्षा करते हैं और सारा दोषारोपण शिक्षा-प्रणाली पर कर देते हैं। यह एक ऐसा ही प्रयत्न है, जो विपर्यास का स्पष्ट निदर्शन है।

### व्यर्थ है आरोपण

विरोध है घर के स्वामी से, पर वह है शक्तिशाली। उसके साथ संघर्ष नहीं किया जा सकता। पर व्यक्ति विरोध प्रदर्शन का दूसरा तरीका अपना लेता है, उसकी गाय-भैंस पर लाठियां चलाने लग जाता है, उनको पीटना प्रारम्भ कर देता है। अरे! उन पशुओं ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा?

आज यही हो रहा है। आदमी चारित्रिक विकास देखना चाहता है, अनुशासन को प्रतिष्ठित देखना चाहता है, पर जब उनकी परिणति नहीं देखता, तब सारा दोष शिक्षा-प्रणाली पर लाद कर सुख की सांस लेता है। शिक्षा-प्रणाली में जब चारित्रिक विकास के बीज ही नहीं हैं, अनुशासन लाने वाले तत्व ही नहीं हैं तब उनकी परिणति साक्षात् कैसे होगी? यह प्रयत्न बीज के बिना फल पाने जैसा है। यदि शिक्षा-प्रणाली में चरित्र और अनुशासन के बीज हों किन्तु

उनकी निष्पत्ति न आए तो चिंता का विषय हो सकता है। बीज बोने पर भी फसल न हो तो किसान चिंतित हो जाता है पर बीज बोएं ही नहीं और फसल की आशा करें, यह वज्र-मूर्खता है।

### जीवन विज्ञान की परिकल्पना

जीवन विज्ञान की परिकल्पना यही है कि शिक्षा-प्रणाली संतुलित हो। जीवन विज्ञान का एक अर्थ है-संतुलित शिक्षा-प्रणाली। संतुलित का अभिप्राय है कि जैसे शारीरिक विकास और बौद्धिक विकास का प्रयत्न किया जा रहा है, वैसा ही प्रयत्न मानसिक विकास और भावनात्मक विकास के लिए हो। ऐसा होने पर ही शिक्षा-प्रणाली संतुलित हो सकेगी।

### प्राणधारा का संतुलन

आज संतुलन का प्रश्न बहुत महत्व का है। उस संतुलन को प्रस्थापित करने वाले तथ्य कौन-कौन से हैं, इस पर हम कुछ विमर्श करें।

पहला तथ्य है-प्राणधारा का संतुलन।

मानसिक और भावनात्मक विकास के लिए प्राणधारा का विकास और संतुलन आवश्यक है। प्राण के दो प्रवाह हैं- इड़ा और पिंगला। ये प्राचीन योगशास्त्रीय नाम हैं। आज के शरीरशास्त्रीय भाषा में एक का नाम है- **पेरा सिंपेथेटिक नर्वस् सिस्टम** और दूसरे का नाम है- **सिंपेथेटिक नर्वस् सिस्टम**। प्राण के इन दोनों प्रवाहों में जब तक संतुलन नहीं होता तब तक हम जिस प्रकार के विद्यार्थी की परिकल्पना करते हैं, वह परिकल्पना सार्थक नहीं होगी। जब प्राण का एक प्रवाह अधिक सक्रिय हो जाता है तो उदंडता और उच्छृंखलता पनपती है, हिंसक और तोड़फोड़ की वृत्ति बढ़ती है। यह सारा कार्य दार्या प्राणधारा की सक्रियता का परिणाम है। यदि प्राणधारा का बायां प्रवाह सक्रिय होता है तो व्यक्ति में हीनभावना का विकास होता है, भय की वृत्ति होती है, दुर्बलता आती है। दोनों में संतुलन अपेक्षित है। जब यह संतुलन सधता है तब संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण होता है, न हीनभावना पनपती है, न उदण्डता और अनुशासनहीनता आती है, न भय की वृत्ति प्रबल बनती है।

### जैविक संतुलन

आज के मेडिकल साइन्स ने मस्तिष्कीय खोजों द्वारा यह प्रस्थापित किया है कि आदमी के मस्तिष्क का बायां हिस्सा स्कूलीय अध्ययन के लिए

बहुत उपयोगी है। तर्क, गणित और भाषा का जितना कार्य है, यह सारा बाएं हिस्से का कार्य है। आज मस्तिष्क पर और उसकी कार्य-प्रणाली पर प्रतिवर्ष अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो रहे हैं। उनमें अनेक रहस्योद्घाटन हुए हैं। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि मस्तिष्क की रचना और उसकी कार्यप्रणाली की पूरी जानकारी हो गई है। बहुत अल्प जानकारी हुई है और उसके आधार पर कहा जा सकता है कि मस्तिष्क का बायां हिस्सा बौद्धिक विकास के लिए उत्तरदायी है। प्रज्ञा का विकास, आन्तरिक वृत्तियों का विकास, अध्यात्मिक और अन्तश्चेतना का विकास, यह सब दाएं मस्तिष्क का काम है। यह इनके विकास और हास के लिए उत्तरदायी है।

आज असंतुलन हो गया। बायां हिस्सा अधिक सक्रिय हो गया और दायां हिस्सा सोया का सोया रह गया। ऐसा हो गया कि आदमी का एक हाथ आकाश को छूने लग गया और एक हाथ बौना ही रह गया। यह असंतुलन समस्या पैदा कर रहा है।

जीवन विज्ञान का एक कार्य यह भी है कि जैविक दृष्टिकोण से जो असंतुलन हो रहा है, उसे रोक कर संतुलन स्थापित करना।

जीवन विज्ञान का दूसरा अर्थ है-जैविक संतुलन की स्थापना।

### क्षमता का आस्था का जागरण

जीवन विज्ञान का तीसरा अर्थ है- क्षमता की आस्था का जागरण। आदमी स्वयं की क्षमताओं से अनभिज्ञ है। दर्शन की दृष्टि से कहा गया है कि मनुष्य में अनन्त ज्ञान होता है, अनन्त बल होता है, अनन्त आनन्द होता है। यह प्राचीन दर्शन की भाषा है, पर आज का विज्ञान इसी भाषा में बोलने लग गया है।

अभी कुछ वर्ष पूर्व सुपर लर्निंग की प्रणाली विकसित हुई थी। डॉ॰ लॉपनोव ने इस प्रणाली को जन्म दिया। उसका यह सिद्धांत है कि हमारे मस्तिष्क में सीखने की अनन्त क्षमता है। उसको विकसित किया जा सकता है। उसने प्रयोग किए। जो बच्चा पांच-दस शब्द याद करने में हिचकिचाता था, उसको इस प्रणाली से हजारों शब्द याद करा दिए।

विज्ञान भी इसी निष्कर्ष तक पहुंचा है कि हमारे मस्तिष्क में अनन्त क्षमताएं हैं परन्तु आदमी उन क्षमताओं का पांच-सात प्रतिशत ही उपयोग कर पाता है। जो दस प्रतिशत उपयोग करने लग जाता है, वह महान् व्यक्ति



बन जाता है। जो उपयोग नहीं कर पाता, उसकी सारी क्षमताएं सोयी रह जाती हैं।

जीवन विज्ञान के द्वारा विद्यार्थी में यह आस्था जागृत होती है कि हमारे भीतर अनन्त क्षमताएं हैं और हम उन्हें सक्रिय कर सकते हैं, उनसे लाभ उठा सकते हैं।

आस्था का निर्माण करना बहुत बड़ी निष्पत्ति है। महान् इतिहासकार टॉयनबी ने लिखा-आस्था और रोटी- ये दो प्रश्न हैं। आस्थाहीन रोटी और रोटीविहीन आस्था-दोनों हमारे लिए खतरे बन सकते हैं।

आज सारा ध्यान रोटी पर केन्द्रित हो गया है। आस्था की बात गौण हो गई है। लोग सोचते हैं, आस्था रहे या न रहे, रोटी होनी चाहिए। रोटी आवश्यक है, पर इस तथ्य को विस्मृत नहीं करना चाहिए कि रोटीविहीन आस्था से काम नहीं चलता तो आस्थाविहीन रोटी भी आदमी को कभी-कभी खाने लग जाती है, भयंकर बन जाती है। दोनों का संतुलन हो। रोटी भी हो और आस्था भी हो।

आस्था को छोड़कर आदमी जी नहीं सकता। जब आस्था लड़खड़ा जाती है तब आदमी के घुटने टिक जाते हैं। हम प्रत्येक विद्यार्थी में उसकी क्षमता के अनुसार आस्था उत्पन्न करें। उसमें ऐसी आस्था पैदा हो जाए कि कोई भी कार्य असंभव नहीं है। सभी कार्य संभव हैं। यदि उचित प्रयत्न, दृढ़ अध्यवसाय और उचित साधन-सामग्री का संयोजन और संकलन हो तो प्रत्येक कार्य को सम्भव बनाया जा सकता है।

### त्रिआयामी परिष्कार

जीवन विज्ञान का चौथा अर्थ है-परिष्कार। यह परिष्कार तीन आयामों में हो-दृष्टिकोण का परिष्कार, व्यवहार का परिष्कार और भावना का परिष्कार। मिथ्यादृष्टिकोण, मिथ्याव्यवहार और मिथ्याभावना-ये तीनों मनुष्य को उत्थान की ओर नहीं ले जाते, पतन की ओर ले जाते हैं। किसी भी राष्ट्र के उत्थान और पतन का इतिहास पढ़ें, किसी भी समाज और व्यक्ति के उत्थान और पतन की कहानी पढ़ें, उनकी गहराई में तीन बातें मिलेंगी। उत्थान के तीन कारण हैं-सम्यक् दृष्टिकोण, सम्यक् व्यवहार और सम्यक् भाव। पतन के तीन कारण हैं-मिथ्यादृष्टिकोण, मिथ्याव्यवहार और मिथ्याभाव। ये उत्थान-पतन के मूलभूत कारण हैं। अवान्तर कारण सैकड़ों-हजारों हो सकते हैं, पर वे मूल के उपजीवी हैं।

जीवन विज्ञान की प्रक्रिया का यह महत्वपूर्ण कार्य है-विद्यार्थी का दृष्टिकोण परिष्कृत हो, व्यवहार और भावना परिष्कृत हो।

प्रश्न है-हमारा दृष्टिकोण, व्यवहार और भाव मिथ्या क्यों होते हैं? उनका माध्यम क्या है? हमारे दृष्टिकोण पर, व्यवहार और भाव पर नियंत्रण किमका है? कौन इनको संचालित करता है? वैज्ञानिक खोजों ने यह प्रस्थापित किया है कि इन सब पर हाइपोथेलेमस (मस्तिष्क का एक भाग) तथा अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियों का नियंत्रण है। पीनियल और पिच्यूटरी-ये ग्रन्थियां इनको संचालित करती हैं। इन ग्रन्थियों से प्रभावित एड्रीनल भी इन पर नियंत्रण रखती है। हमें परिष्कार करना है दृष्टिकोण का, हमें परिष्कार करना है व्यवहार और भावना का। यह हमारा लक्ष्य है, किन्तु जब तक हाइपोथेलेमस पर ध्यान केन्द्रित नहीं करेंगे, तब तक ग्रन्थियों से स्रावित होने वाले स्राव का परिष्कार नहीं होगा और जब तक यह ग्रन्थि-स्राव परिष्कृत नहीं होगा तब तक दृष्टिकोण, व्यवहार और भाव का परिष्कार नहीं होगा।

यह सही है कि परिस्थितियां हमारे दृष्टिकोण, व्यवहार और भाव को प्रभावित करती हैं, किन्तु उनका स्थान पहला नहीं है। वे मुख्य नहीं, गौण हैं। मुख्य हैं अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियों के स्राव। इन्हें उपादान कारण कहा जा सकता है और परिस्थिति को निमित्त कारण माना जा सकता है। निमित्त का उतना मूल्य नहीं होता, जितना उपादान का होता है। घड़े का उपादान है मिट्टी और निमित्त है कुंभकार, चाक आदि। कुंभकार और चाक का भी अपना महत्व है, पर जब घड़े की निर्मिति होती है तब ज्यादा मूल्य होता है मिट्टी का। उपादान का मूल्य अधिक होता है। उसके बिना कुछ बनता नहीं।

### उपादान का परिष्कार

उपादान और निमित्त-दोनों का परिष्कार करना है। मिट्टी के बिना भी घड़ा निर्मित नहीं होता और कुंभकार तथा चाक के बिना भी वह नहीं बनता। घड़े की निर्मिति में दोनों जरूरी हैं, पर दोनों में पहला स्थान है मिट्टी का।

इसी प्रकार परिष्कार के लिए हमें पहला स्थान देना होगा आन्तरिक उपादानों को और दूसरा स्थान देना होगा परिस्थितियों को-परिस्थितिजनित निमित्तों को।

परिष्कार घटित करना-यह जीवन विज्ञान का कार्य है। उसकी प्रक्रिया पर विचार करने से पहले हम यह अनुभव करें कि परिष्कार अपेक्षित है। हमारे

इस संसार में सर्वत्र तारतम्य है। किसी भी एक श्रेणी को देखें, वहां तरतमता दृष्टिगोचर होगी। तारतम्य तर्कशास्त्र का प्रबल सिद्धांत है। इसके आधार पर 'अन्तिम' की बात की जाती है। जहां तरतमता समाप्त हो जाती है, वहां 'अन्तिम' की बात भी समाप्त हो जाती है। भारतीय दर्शन में जिस किसी तत्त्व पर विचार किया गया है, वह तरतमता के आधार पर ही किया गया है वहां चिंतन का तारतम्य है, तर्क-वितर्क का तारतम्य है और ज्ञान का तारतम्य है।

प्रत्येक कार्य-क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की तरतमताएं देखी जाती हैं। इन तरतमताओं के आधार पर हमें उस बिन्दु को पकड़ना है जहां परिष्कार घटित हो सकता है।

### जीवन विज्ञान : मस्तिष्कीय परिष्कार

अध्यापक के हाथ में अपरिष्कृत बच्चे आते हैं। उनमें तरतमता होती है, पर उन सबका परिष्कार किया जा सकता है। परिष्कार की प्रक्रिया के बिना शिक्षा-प्रणाली को संतुलित नहीं कहा जा सकता। हमारा यह आग्रह नहीं है कि यह परिष्कार जीवन विज्ञान की प्रणाली से ही आ सकता है। अनेक प्रणालियां हो सकती हैं, पर परिष्कार का विकल्प हमारे पास होना चाहिए। शिक्षा के साथ परिष्कार के सूत्र अवश्य जुड़े होने चाहिए, ताकि विद्यार्थी के अपरिष्कृत दृष्टिकोण, व्यवहार और भाव परिष्कृत बनते जाएं। विद्यार्थी छोटा बच्चा है। जब वह दूसरे को गाली देते देखता है तो उसके सामने गाली देने का ही विकल्प होता है। वह जानता ही नहीं कि गाली के सामने गाली नहीं देनी चाहिए। उसे कोई पीटेगा तो वापस पीटना ही उसका काम होगा। कोई दूसरा उसकी चीज उठाएगा तो वह दूसरे की चीज उठा लेगा, क्योंकि क्रिया की प्रतिक्रिया करना उसने सीखा है। अपरिष्कृत मस्तिष्क में एक ही सूत्र उत्पन्न होता है-क्रिया की प्रतिक्रिया करना, जैसे दूसरा करे, वैसे करना। जब परिष्कार आता है तब गाली के प्रति गाली न देना, जैसे के प्रति वैसा नहीं करना घटित होता है।

अब्राहम लिंकन को कोई व्यक्ति नमस्कार करता तो वे टोप उतार कर उसके नमस्कार का उत्तर देते। एक दिन मित्रों ने कहा-राष्ट्रपति महोदय! आप अमेरिका के राष्ट्रपति हैं। आपको मर्यादा की सुरक्षा करनी चाहिए। आप हर किसी व्यक्ति का टोप उतार कर अभिवादन करते हैं, यह उचित नहीं है।

राष्ट्रपति लिंकन ने कहा-जानते हो, अमेरिका का राष्ट्रपति शिष्टता के

मामले में किसी से पीछे रहना नहीं चाहता। एक व्यक्ति शिष्ट बनकर मुझे नमस्कार करे और मैं नमस्कार न कर उसके पीछे रह जाऊँ, तब मैं राष्ट्रपति कहां रहा? राष्ट्रपति तो वह बन गया और मैं उसके नीचे रह गया।

यह जो परिष्कार का विचार पैदा होता है, वह परिष्कार की प्रक्रिया का ही प्रतिफलन है।

विद्यार्थी के मस्तिष्क का परिष्कार करना, यह शिक्षा-प्रणाली का एक महत्वपूर्ण कार्य होना चाहिए। जीवन विज्ञान का अर्थ है-परिष्कार करना।

जीवन विज्ञान की प्रणाली चार पहलुओं के आधार पर प्रस्तुत की गयी हैं-

- |                             |                              |
|-----------------------------|------------------------------|
| १. प्राणधारा का संतुलन।     | ३. क्षमता की आस्था का जागरण। |
| २. जैविक संतुलन की स्थापना। | ४. परिष्कार।                 |

इसका प्रतिफलन चार आयामों में होगा-

- |                  |                     |
|------------------|---------------------|
| १. शारीरिक विकास | ३. मानसिक विकास     |
| २. बौद्धिक विकास | ४. भावनात्मक विकास। |

### अभ्यास

- वे तीन कौनसी मौलिक वृत्तियाँ हैं, जो मनुष्य के विकास का आधार बनीं?
- संतुलित शिक्षा प्रणाली का तात्पर्य क्या है?
- हमारे दृष्टिकोण, व्यवहार और भाव को प्रभावित करने वाला उपादान कारण क्या है?
- वर्तमान शिक्षा के संदर्भ में जीवन विज्ञान की आवश्यकता क्यों हुई?

# जीवन विज्ञान : आधार और प्रक्रिया

## शरीर तंत्र का प्रशिक्षण

व्यक्ति का संचालन तन्त्र के द्वारा होता है। प्रत्येक कार्य की निष्पत्ति के लिए एक सशक्त तंत्र अपेक्षित होता है। प्रत्येक मनुष्य के साथ कार्य संचालन के लिए एक तंत्र है और उसमें चार तत्त्व काम कर रहे हैं-शरीर, श्वास, वाणी और मन। ये चारों साधक भी बनते हैं और बाधक भी, विकास के हेतु भी बनते हैं और अवरोधक भी। यदि इन्हें शिक्षित कर लिया जाता है तो ये साधक बन सकते हैं, अशिक्षित रहते हैं तो बाधक भी बन जाते हैं। प्रश्न है अभ्यास देने का, शिक्षित करने का।

शरीर का महत्वपूर्ण भाग है-नाड़ी-संस्थान, मस्तिष्क और पृष्ठरज्जु। हमारे शरीर में दो ध्रुव हैं। ऊपर का ध्रुव है-मस्तिष्क और नीचे का ध्रुव है-रीढ़ की हड्डी का निचला सिरा। मस्तिष्क चेतना का विकिरण करता है और पृष्ठरज्जु का निचला हिस्सा शक्ति का विकिरण करता है। एक शक्ति के संग्रह का अमोघ साधन है, दूसरा चेतना के संग्रह का।

हमारे जीवन में चेतना और शक्ति-ये दो महत्वपूर्ण तत्त्व हैं। दोनों को दो ध्रुव संभाले हुए हैं। एक ध्रुव है-मस्तिष्क या ज्ञान केन्द्र और दूसरा ध्रुव है-शक्तिकेन्द्र। इनका संतुलित विकास होता है तो हमारी प्रवृत्ति का संचालन बहुत सहजता और सरलता से होता है।

## सेतु है श्वास

दूसरा तत्त्व है-श्वास। श्वास का मूल्यांकन बहुत कम हो पाया है। वस्तुतः वाणी, मन और नाड़ी-संस्थान- इन सब में प्राण का संचार करने का माध्यम बनता है-श्वास। श्वास एक महत्वपूर्ण तत्त्व है जो बाह्य जगत् में भी रहता है और अन्तर्जगत् में भी रहता है। बाहर आता है और फिर भीतर जाता है। बाह्य और अन्तर्-दोनों के बीच सेतु बना हुआ है हमारा श्वास। श्वास की प्रक्रिया बहुत छोटी लगती है, किन्तु बहुत महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। श्वास के

प्रयोग प्राणवायु का संपूरण करते हैं। ऑक्सीजन जाती है श्वास के माध्यम से। कार्बन-डाइ-आक्साइड निकलती है श्वास के माध्यम से। श्वास भीतर जाती है जो प्राण तत्त्व लेकर जाती है और बाहर आती है तो दूषित तत्त्व को लेकर आती है। यह सारा कार्य श्वास के द्वारा हो रहा है। ऑक्सीजन के बिना कोई भी कोशिका काम नहीं कर सकती। प्रत्येक कोशिका को प्राणवायु की जरूरत होती है। यह सारा ईंधन उपहृत होता है श्वास के द्वारा। श्वास सारी सप्लाय कर रही है। श्वास हमारी चेतना के जागरण में भी बड़ी सहयोगी बनती है। चेतना के सूक्ष्म स्पंदनों को सक्रिय बनाने में श्वास का बड़ा योग होता है।

### वाणी : सामाजिकता का माध्यम

तीसरा तत्त्व है-वाणी। वाणी हमारी प्रवृत्ति का और सामाजिकता का मुख्य माध्यम है। यदि वाणी नहीं होती तो समाज नहीं होता। पशुओं का समाज नहीं है। वह इसलिए नहीं है कि उनके पास भाषा नहीं है। वाणी के अभाव में समाज नहीं बनता। संस्कृत कोश में दो शब्द व्यवहृत हैं-समज और समाज। 'पशूनां समजः, मनुष्याणां समाजः'- पशुओं का समूह 'समज' होता है और मनुष्यों का समूह 'समाज' होता है। भेद-रेखा यही है कि पशुओं के पास वाणी नहीं है। वाणी के बिना व्यवस्थित चिंतन नहीं हो सकता और चिंतन के बिना कोई समाज नहीं बन सकता। मनुष्य को वाणी भी उपलब्ध है, चिन्तन भी उपलब्ध है इसलिए वह समाज बना पाया है। सामाजिकता का मुख्य आधार बनती है-वाणी।

### मन

चौथा तत्त्व है-मन। मन स्मृति, कल्पना और चिन्तन का माध्यम बनता है। हमारी जीवन की यात्रा इन तीनों के आधार पर चलती है। स्मृति के अभाव में यात्रा दूभर हो जाती है। कल्पना के बिना विकास की कोई बात नहीं सोची जा सकती। चिंतन के बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता। इन तीनों का सशक्त माध्यम है हमारा मन।

### समस्या सहायक की

ये चार तत्त्व -शरीर, श्वास, वाणी और मन हमारे प्रवृत्ति तन्त्र के मजबूत पाये हैं। इन चारों के बिना हमारी प्रवृत्तियों का सम्यक् संचालन नहीं हो सकता पर ये बाधक भी बन जाते हैं। मन बहुत बाधक बनता है। एक काम

करना है। अनावश्यक स्मृतियाँ बीच में आने लग जाती हैं। मन बाधा डालने लग जाता है। जो काम पांच मिनट में होना चाहिए, वह पचास मिनट में भी नहीं हो सकता और कुछ लोग ऐसे होते हैं कि काम पूरा कर ही नहीं पाते। स्मृतियों का तार इस प्रकार उघड़ता है कि एक के बाद एक स्मृति का चक्र आता है, वह अनंत बन जाता है और मूल बात वहीं की वहीं रह जाती है। स्मृति हमारे कार्य में सहयोग देती है, बाधा भी देती है। कल्पना का बहुत सहयोग है तो कल्पना बहुत बाधा भी देती है। यदि कल्पना पर हमारा नियन्त्रण नहीं है तो कल्पना बहुत बाधक बन जाती है। कुछ लोग व्यर्थ की कल्पनाएं करते हैं। वे काल्पनिक जीवन जीते रहते हैं, यथार्थ के धरातल पर उनका पैर कभी टिकता ही नहीं। इससे जीवन में बाधा उपस्थित हो जाती है। चिंतन बहुत उपयोगी होता है तो चिंतन बहुत बाधा भी उपस्थित करता है। इतना चिंतन, इतना चिंतन कि क्रियान्विति का सारा रस ही चिंतन खा लेता है, क्रियान्विति को कभी मौका ही नहीं मिलता। चिंतन कभी टूटता ही नहीं, क्रियान्विति कैसे हो?

वाणी की बाधा को सब लोग जानते हैं। थोड़ा-सा अप्रिय शब्द निकला, परम मित्र शत्रु बन जाता है। मन की सारी क्रिया वाणी पर निर्भर है। स्मृति, कल्पना, चिंतन सब भाषा पर आधारित हैं। भाषा के बिना न स्मृति, न कल्पना और न चिंतन। सब भाषा के आधार पर ही चलते हैं। वास्तव में स्वरयंत्र बहुत महत्वपूर्ण है। एक आदमी सो रहा है। सोते समय बोलता नहीं, किन्तु उसका स्वरयंत्र सक्रिय हो जाता है नींद में भी वह सक्रिय होता है। शब्दानुशासन, मन्त्रानुशासन और मनोनुशासन-इन तीनों में भाषा को द्विरूप माना है। एक है बहिर्जल्प और दूसरा है अन्तर्जल्प। एक, जो बाहर से बोलते हैं और एक, जो भीतर से बोलते हैं-बाहर से कुछ नहीं बोलते, किन्तु भीतर से स्वरयंत्र की सक्रियता बराबर बनी रहती है, बोलते चले जाते हैं। यह काम नींद में भी होता रहता है, सपने में भी होता रहता है। अन्तर्जल्प हमारा बन्द नहीं होता और इसीलिए बहुत सारे लोग अशब्द नींद नहीं ले पाते। उनकी नींद सशब्द होती है, स्वरयंत्र बराबर चलता रहता है।

भाषा जहाँ सहायक बनती है वहाँ भाषा बहुत बाधक भी बनती है। बहुत सारे मानसिक तनावों को पैदा करने में भाषा का, स्वरयंत्र का बड़ा योग रहता है।

जहाँ श्वास बहुत सहायक है, वहाँ श्वास बहुत बाधक भी बनता



है। एक आदमी को उत्तेजना बहुत आती है। बहुत क्रोध, बहुत अहंकार, बहुत वासना, बहुत ईर्ष्या और बहुत घृणा आती है। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण है-श्वास। श्वास सधा हुआ नहीं है तो वह इन वृत्तियों को पैदा करने में निमित्त बन जाता है। श्वास दो प्रकार का होता है- लंबा श्वास और छोटा श्वास। जो सहज श्वास है वह वास्तव में लंबा श्वास होना चाहिए। वस्तुतः सहज श्वास और लंबा श्वास पृथक् नहीं है। कुछ लोग यह मानते हैं कि श्वास तो सहज होता है उसे लम्बा किया जाता है किन्तु जीवन विज्ञान का अभिमत है कि दीर्घ श्वास ही वास्तव में सहज श्वास हो सकता है। एक मिनट में जो १५-१६ श्वास लिए जाते हैं, वह वास्तव में सहज श्वास नहीं है। श्वास की संख्या और कम होनी चाहिए। हमारी शारीरिक रचना के आधार पर यदि श्वास हो तो मैं समझता हूँ कि एक मिनट में ७-८ से ज्यादा श्वास नहीं होने चाहिए किन्तु पन्द्रह-सोलह श्वास आते हैं क्योंकि हमारी शारीरिक संरचना के साथ-साथ हमारी मानसिक वृत्तियाँ भी काम करती हैं और उनसे प्रभावित होकर श्वास छोटा बन जाता है। सूत्र इस प्रकार बनता है-उत्तेजना के क्षणों में श्वास छोटा होता है, या जब श्वास छोटा होता है तब आदमी को उत्तेजना आती है। क्रोध के क्षणों में श्वास छोटा बन जाएगा और जब श्वास छोटा बनेगा तब क्रोध आने के प्रसंग ज्यादा बनेंगे।

हमारा नाड़ी-संस्थान प्रवृत्ति के संचालन में सहायता कर रहा है और उसके द्वारा ज्ञान और क्रिया दोनों संपादित हो रहे हैं। उसी के आधार पर ज्ञानवाही नर्व और क्रियावाही नर्व-दोनों अपना-अपना ठीक काम कर रहे हैं और जीवन की यात्रा चल रही है। किन्तु जब नाड़ी-संस्थान सधा हुआ नहीं होता है तो प्राण के प्रवाह अवरुद्ध हो जाते हैं और वे हमारे शरीर के भीतर अनेक विकृतियाँ पैदा करने लग जाते हैं। बहुत सारी विकृत आदतों के लिए नाड़ी-संस्थान ही सहायक बनता है।

इस प्रकार तंत्र के चारों तत्त्व सहयोगी भी बनते हैं और बाधक भी बनते हैं। यदि शिक्षित हैं तो हमारा सहयोग करते हैं और अशिक्षित हैं तो अवरोध करते हैं।

### जीवन विज्ञान का आधार तत्त्व: प्रशिक्षण

शरीर की साधना, श्वास की साधना, वाणी की साधना और मन की साधना-इन चारों की साधना करना, चारों को शिक्षित करना जीवन विज्ञान की

प्रक्रिया का मौलिक आधार है। जब तक आधार की बात समझ में नहीं आती, ठीक उपचार नहीं होता। कभी-कभी ऐसा होता है कि उपचार करने वाला स्वयं बीमार पड़ जाता है तब उपचार की कठिनाई पैदा हो जाती है।

शरीर, श्वास, वाणी और मन-ये चार तत्त्व हैं उपचार करने वाले। जब ये ही बीमार हो जाते हैं तब हमारे सामने समस्या पैदा हो जाती है। इनको स्वस्थ बनाएं, सशक्त बनाएं, शिक्षित करें तो हमारी बाधाएं निरस्त हो सकती हैं।

## प्रशिक्षण की प्रक्रिया

इनको प्रशिक्षित करने की प्रक्रिया क्या है, यह एक प्रश्न है। प्रक्रिया के चार तत्त्व हैं-प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा, कायोत्सर्ग और जागरूकता। देखना सीखें, ध्वनि तरंग पैदा करना सीखें, शिथिलीकरण का अभ्यास करें, शिथिल होना सीखें और जागरूकता का अभ्यास करें। यह शिक्षण की पूरी प्रक्रिया है।

प्रशिक्षण का पहला तत्त्व है-प्रेक्षा। हमें देखना-सीखना है। भारतीय दर्शन देखने का दर्शन है। आज दर्शन का अर्थ बदल गया! आज महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में जो दर्शन पढ़ाया जा रहा है, वह है तर्क प्रधान, अनुमान प्रधान किन्तु जो प्राचीन दर्शन रहा है, वह है देखना, प्रत्यक्षीकरण, साक्षात्कार। अनुमान नहीं, तर्क नहीं, हेतु नहीं, व्याप्ति नहीं, किन्तु साक्षात्कार, प्रत्यक्षीकरण। यह दर्शन है। हम सोचना जानते हैं, देखना नहीं जानते।

दर्शन और चिन्तन में मौलिक अन्तर होता है। अध्यात्म की भाषा में दर्शन है-साक्षात् देखना। दर्शन का वास्तविक अर्थ यही है।

## प्रत्यक्षीकरण श्वास का

श्वास की प्रेक्षा, शरीर की प्रेक्षा और चैतन्य केन्द्र की प्रेक्षा- श्वास दर्शन, शरीर दर्शन और चैतन्य केन्द्रों का दर्शन। प्रश्न होगा कि क्या देखना है श्वास को? श्वास आता है, जाता है। हर क्षण आता है, जाता है, कभी बंद ही नहीं होता। क्या देखना है उसको? जब तक नहीं देखते तब तक श्वास का सही मूल्यांकन नहीं हो सकता और यह शिकायत बनी रहती है कि मन कभी टिकता नहीं, बड़ा चंचल है, बहुत भागता है, कभी रुकता नहीं किन्तु जिन लोगों ने श्वास-दर्शन का अभ्यास किया है उनकी यह शिकायत समाप्त हो जाती है।

श्वास-दर्शन मन की स्थिरता के लिए एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। मन में चंचलता कौन पैदा कर रहा है? मन तो पैदा नहीं कर रहा है।

आदमी के भीतर की वृत्तियां चंचलता पैदा कर रही हैं। जब-जब वृत्तियां जागती हैं, मन चंचल हो जाता है। चंचल होने में मन का क्या दोष है? वह अपने आप में चंचल नहीं है, हमारी वृत्तियां उसे चंचल बना रही हैं। बहुत सारे लोग मन को पकड़ना चाहते हैं, मन को स्थिर करना चाहते हैं पर न भूत न भविष्यति- न हुआ है न होगा। मन की तुलना हम बिजली के पंखे से कर सकते हैं। जब स्विच ऑन होता है, बिजली का प्रवाह आता है और पंखा चलने लग जाता है, वह चंचल बन जाता है। जब स्विच ऑफ करते हैं, बिजली का प्रवाह रुकता है और पंखा भी रुक जाता है। इसी प्रकार यदि मन को स्थिर करना है तो भीतर की वृत्तियों के स्विच को ऑफ करना होगा। स्विच ऑफ होते ही मन रुक जाएगा, मन बिल्कुल शांत हो जाएगा।

वृत्तियों को शांत करने के लिए, स्विच ऑफ करने के लिए श्वास बहुत बड़ा माध्यम बनता है। जैसे बटन को दबाने के लिए हमारी अंगुली काम करती है वैसे ही वृत्तियों को शांत करने के लिए श्वास काम करता है श्वास के माध्यम से वृत्तियां शांत हो जाती हैं।

### प्रत्यक्षीकरण शरीर का

दूसरी बात है-शरीर-दर्शन। शरीर को देखना है। प्रश्न है कि क्या देखें? चमड़ी को तो देखते हैं। शीशे के सामने खड़े होकर हर आदमी ध्यान से शरीर को देखता है और देखता है अपनी चमड़ी को, अपने रंग-रूप को। यह शरीर-दर्शन नहीं है। शरीर-दर्शन का अर्थ है शरीर के भीतर होने वाली समस्त क्रियाओं का साक्षात्कार करना।

शरीर के भीतर अनेक रसायन हैं विद्युत है, हलचल है, प्रकम्पन है। शरीर के भीतर ग्रन्थियों के स्राव के कारण अनेक रासायनिक परिवर्तन हो रहे हैं। हमारे मस्तिष्क में रासायनिक परिवर्तन हो रहे हैं। चित्त कितने रसायनों को पैदा कर रहा है? उन रसायनों, विद्युत-प्रवाहों के द्वारा किस प्रकार हमारी आदतें बनती हैं, बिगड़ती हैं। किस प्रकार हमारे मनोभाव बन रहे हैं, बिगड़ रहे हैं-इन सारी अवस्थाओं को देखने का अर्थ है-शरीर-दर्शन। जब श्वास को शांत कर कायोत्सर्ग की मुद्रा में हम स्थिर होते हैं, अपनी सारी चेतना को बाहर से हटाकर भीतर में नियोजित करते हैं, तब हमें सबसे पहले शरीर के

प्रकम्पनों का पता लगने लगता है कि कहां प्रकम्पन हो रहे हैं। प्रकम्पनों का पता एक साथ नहीं, धीरे-धीरे होने लगता है, फिर रसायनों की प्रक्रिया का ज्ञान होता है। अभ्यास जैसे-जैसे परिपक्व होता है, शरीर की अनेक गतिविधियों का पता लगने लग जाता है। यह है शरीर प्रेक्षा, शरीर-दर्शन।

### प्रत्यक्षीकरण चैतन्य केन्द्रों का

तीसरा है चैतन्य-केन्द्र-दर्शन। हमारे शरीर में अनेक चैतन्य केन्द्र हैं। वैसे तो पूरा शरीर ही चैतन्य केन्द्रों से भरा पड़ा है किन्तु उपयोगिता के लिए प्रेक्षा ध्यान की पद्धति में तेरह चैतन्य केन्द्रों को महत्त्व दिया गया है। जब चैतन्य केन्द्रों को देखना शुरू करते हैं तब वे चैतन्य केन्द्र सक्रिय होने लग जाते हैं। चैतन्य केन्द्र सक्रिय हैं या निष्क्रिय, यह भी स्पष्ट ज्ञात हो जाता है।

श्वास-दर्शन, शरीर-दर्शन और चैतन्य-केन्द्र-दर्शन-ये सारे प्रेक्षा प्रक्रिया के अंगभूत हैं।

### अनुप्रेक्षा

दूसरा तत्त्व है-अनुप्रेक्षा। अनुप्रेक्षा में चिंतन भी है, ध्वनि-प्रयोग भी है, भावना का प्रयोग भी है। यह एक प्रकार से आत्म-सम्मोहन का प्रयोग है। कल्पना करें-किसी आदमी में नशे की आदत है, तम्बाकू पीता है, शराब पीता है, कोई गाली बकता है, गुस्सा करता है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न आदतें होती हैं। अब उन आदतों को बदलना है। कैसे बदलें? बहुत सारे लोग आदतों को बदलने के लिए त्याग लेते हैं, संकल्प लेते हैं। और बहुत बार ऐसा होता है कि सुबह त्याग लिया, संकल्प लिया और शाम होते-होते टूट जाता है। बड़ी कठिनाई है। परिस्थिति आती है और त्याग टूट जाता है, क्योंकि वृत्तियां तो भीतर हैं। जिस वृत्ति को छोड़ने के लिए त्याग लिया उसका जब तक दबाव नहीं आता तब तक तो त्याग निभता है, जब दबाव आता है तब त्याग समाप्त हो जाता है। एक आदमी संकल्प करता है कि शराब नहीं पीऊंगा। किन्तु ठीक पीने का समय आता है, भीतर से मांग उभरती है। सारी संकल्प की बातें धरी रह जाती हैं और वह शराब पीने लग जाता है यह संकल्प की विफलता होती है तब आदतें नहीं बदलतीं। क्योंकि आदत काम कर रही है अवचेतन मन के माध्यम से और हम संकल्प कर रहे हैं, चेतन मन के माध्यम से। जब तक हमारी बात अवचेतन मन तक नहीं पहुंच जाएगी, तब

तक चेतन की जो अर्जित आदत है, वह नहीं बदलेगी। इस समस्या से निपटने के लिए अनुप्रेक्षा यानी भावना का सहारा लेना बहुत जरूरी है।

आज के अनुभवी लोग या वैज्ञानिक दृष्टि रखने वाले लोग सजेशन या ऑटोसजेशन का प्रयोग करते हैं। एक बात को बार-बार दोहराते हैं और अमुक परिस्थिति में दोहराते हैं तो वह बात हमारे अवचेतन मन तक पहुंच जाती है। जैसे श्वास का प्रयोग किया, कायोत्सर्ग का प्रयोग किया, खुमारी जैसी स्थिति हो रही है, नींद आ रही है, इन क्षणों में जो सुझाव दिये जाते हैं, चाहे स्वयं दें या कोई दूसरा व्यक्ति दें, वे सुझाव बहुत गहरं में पहुंच जाते हैं और वे आदत को बदलने में बहुत कारगर बनते हैं। यह अनुप्रेक्षा का प्रयोग, भावना और सम्मोहन का प्रयोग आदत परिवर्तन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण उपाय बनता है।

### कायोत्सर्ग

तीसरा तत्व है-कायोत्सर्ग। इसका एक अर्थ है-शिथिलीकरण। हम आज के इस एलोपैथिक और मेडिकल साइंस के जमाने में जी रहे हैं। इस बात को बहुत अच्छी तरह जानते हैं कि सारी कठिनाइयां मानसिक तनाव से पैदा होती हैं। बीमारियां, जटिल आदतें और चिन्तन की विकृतियां-इन सबके लिए जिम्मेवार होता है-मानसिक तनाव। शिथिलीकरण या कायोत्सर्ग एक प्रक्रिया है तनाव विसर्जन की। तनाव कम होता है तो उसके साथ-साथ ये समस्याएं भी सुलझती हैं। अधिकांश साइकोसोमेटिक बीमारियां तनाव के कारण होती हैं। जब तनाव कम होता है तब ये मनोकायिक बीमारियां अपने आप कम हो जाती हैं। अनिद्रा, चिन्ता, डिप्रेशन और इनसे होने वाली अनेक कठिनाइयां इस स्थिति में अपने आप मिट जाती हैं। एक व्यक्ति हृदयरोग से बहुत पीड़ित था। डाक्टरों का इलाज चल रहा था, किंतु बाद में उसने दवाइयों का रास्ता छोड़ा, दीर्घश्वास का प्रयोग शुरू किया। उस प्रयोग के बाद सारे परीक्षण करवाए तो डाक्टर ने कहा-तुम्हारा हृदय तो बिल्कुल ठीक काम कर रहा है। कोई बीमारी नहीं है। जो धब्बे थे, वे भी समाप्त हैं। यह क्या बात है? क्या किया तुमने? हमारे सिद्धान्त से यह तो हो ही नहीं सकता। उसने कहा-मैं दीर्घश्वास का प्रयोग कर रहा हूँ और इससे यह सब ठीक हो गया।

जब श्वास शिथिल होता है, शान्त होता है, साथ में शरीर शिथिल और शान्त होता है तो अनेक समस्याएं सुलझ जाती हैं, जटिल आदतों में भी परिवर्तन आना शुरू हो जाता है।

## जागरूकता

चौथा तत्त्व है-जागरूकता। हमारी अजागरूकता के कारण अनेक कठिनाइयां पैदा होती हैं। यदि हम जागरूक रहें तो अनेक समस्याओं से बच जाएं। जागरूकता का अभ्यास चलते-फिरते, सोते-बैठते हर समय किया जा सकता है। जो व्यक्ति जागने के समय में जागने का अभ्यास कर लेता है, उसकी जागरूकता नींद में भी बनी रहती है। योगशास्त्र में, अध्यात्म शास्त्र में दो प्रकार की नींद बतलाई गई है-सुप्त निद्रा और जाग्रत निद्रा। जाग्रत निद्रा में आदमी नींद तो लेता है फिर भी बराबर यह भान बना रहता है-मैं नींद ले रहा हूँ, मैं जाग रहा हूँ। मानसिक चिकित्सा का सबसे बड़ा सूत्र है-स्मृति बोध या जागरूकता, सतत जागरूकता। इस पद्धति के माध्यम से जटिल मानसिक रोगों की चिकित्सा की जा सकती है।

जीवन विज्ञान की अभ्यास-प्रक्रिया के ये चार तत्त्व-प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा, कायोत्सर्ग और जागरूकता-बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। जो व्यक्ति इन चारों को साध लेता है, इनमें निष्णात हो जाता है, वह अपने जीवन का आनन्द लेने में सक्षम हो जाता है। चेतना और शक्ति का संचय इनके माध्यम से होता है। इनका प्रयोग करने वाला व्यक्ति चेतना-संपन्न (विशिष्ट चेतना-संपन्न) और शक्ति-संपन्न बन जाता है।

## अभ्यास

१. शरीर, श्वास, वाणी और मन-इन चारों को प्रशिक्षित करने की जीवन-विज्ञान में कौनसी प्रक्रिया है?
२. मन चंचल क्यों होता है? उसकी चंचलता को मिटाने का सरल उपाय बताइए?
३. अनुप्रेक्षा का प्रयोग क्यों किया जाता है?
४. प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में शरीर दर्शन का अर्थ समझाइए?

## शिक्षा की समस्याएं

### विकास का प्रश्न

जगत में पशु भी हैं, पक्षी भी हैं और मनुष्य भी हैं। मनुष्य भिन्न श्रेणी का प्राणी है, क्योंकि वह बहुत विकसित और विकासशील है। उसने बहुत विकास किया है। विकास के दो आधार हैं-भाषा की स्पष्टता और चिन्तन। भाषा और मन-ये दो विकास के माध्यम हैं। मन से स्मृति, कल्पना और चिंतन होता है। मनुष्य में विकसित स्मृति है, विकसित कल्पना है और विकसित चिन्तन है इसलिए वह विशिष्ट माना जाता है। पशु में भाषा है पर स्पष्ट नहीं है। उसमें चिंतन है, पर बहुत लंबा चिंतन नहीं है। मनुष्य की भाषा स्पष्ट है और चिंतन विकसित है।

हम ध्यान के द्वारा अतीत की स्मृति को कम करने का प्रयत्न, भविष्य की कल्पना को छोड़ने का प्रयत्न और वर्तमान में जीने का प्रयत्न करते हैं। प्रश्न होता है, क्या हम फिर उलटा चल रहे हैं? जो विकास हमें भाषा और चिंतन का प्राप्त हुआ है, उससे उलटा चल रहे हैं? मौन का अभ्यास, विकल्पों को कम करने का अभ्यास विकास की प्रक्रिया है? यदि भाषा न हो और वह अच्छी स्थिति मानी जाए तो अविकसित प्राणी बहुत अच्छे हैं। कहां है उनमें भाषा और चिंतन? वनस्पति के जीवों में या कीड़े-मकोड़ों में कहां है भाषा? कहां है चिंतन? क्या हम उस स्थिति में लौट जाना चाहते हैं? क्या हम प्राप्त विकास को भी अवरुद्ध कर देना चाहते हैं? यह प्रयत्न क्यों? यह बहुत बड़ा प्रश्न है। क्या यह अच्छा नहीं होता कि हमें भाषा उपलब्ध नहीं होती? मन प्राप्त नहीं होता? क्या यह अच्छा नहीं होता कि हम फिर मनुष्य ही नहीं होते? जब हम मनुष्य बन गए, हमें भाषा और चिन्तन का विकास प्राप्त हो गया, तो फिर उसे रोकने का प्रयोजन ही क्या है? उससे उलटे चलने का अर्थ ही क्या है? हमें जो प्रवृत्ति के स्रोत मिले हैं उन्हें निवृत्ति की ओर क्यों ले जाएं?

### स्वाभाविक प्रक्रिया

भारत में चिन्तन की दो धाराएं सदा रही हैं। एक है प्रवृत्तिवाद और

दूसरी है निवृत्तिवाद। प्रवृत्ति और निवृत्ति-यह वस्तु तत्त्व का स्वाभाविक पक्ष था। इसका अनुभव किया गया था, किन्तु अनुभव की बात जब बुद्धि के स्तर पर चर्चित होती है तब उसकी सूक्ष्मता समाप्त हो जाती है, केवल स्थूलता बची रहती है। सारे दर्शन-जगत् में यही हुआ है। स्थूल तत्त्व उभर कर सामने आ गए और जो रहस्य थे, सूक्ष्मताएं थीं, वे नीचे ही छिपी रह गईं। प्रवृत्ति और निवृत्ति भी विवाद का विषय बन गया, जबकि इनमें विवाद जैसा कुछ है नहीं। यह जीवन की स्वाभाविक प्रक्रिया है, न केवल मानवीय जीवन की, परन्तु सम्पूर्ण प्राणी जगत् की, चेतन जगत् की स्वाभाविक प्रक्रिया है। इतना ही नहीं, यह जड़ जगत् की भी स्वाभाविक प्रक्रिया है। प्रत्येक पदार्थ में, जड़ हो या चेतन, दो पक्ष होते हैं-पोजिटिव और नेगेटिव, विधायक और निषेधक। कोई भी शक्ति ऐसी नहीं होती, जिसमें ये दोनों न हों। विधायक पक्ष है हमारी प्रवृत्ति और निषेधक पक्ष है हमारी निवृत्ति।

### संभावनाओं का द्वार : सन्तुलन

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति का संतुलन अपेक्षित है। जहां कहीं यह संतुलन बिगड़ता है, वहां बड़ी कठिनाई पैदा हो जाती है। कोरी प्रवृत्ति पागलपन की ओर ले जाती है। कोरा काम आदमी को निकम्मा बना देता है। अनेक लोग प्रवृत्ति में बहुत विश्वास करते हैं। वे प्रवृत्ति करते-करते अपनी शक्ति को इतना खर्च कर डालते हैं कि अतिप्रवृत्ति उनके लिए वरदान नहीं, अभिशाप बन जाती है। कोरी निवृत्ति भी निकम्मापन लाती है। जब शरीर है तो निवृत्ति से काम नहीं चल सकता। सक्रियता और निष्क्रियता, चिन्तन और अचिन्तन, विचार और निर्विचार, विकल्प और निर्विकल्प, स्मृति और विस्मृति, भाषा और अभाषा-इन सबका संतुलन अपेक्षित है। यह प्रयत्न विकास की प्रतिगामी दिशा में जाने का प्रयत्न नहीं है। हमारा सारा प्रयत्न विकास की अग्रिम मंजिल तक जाने का प्रयत्न है। मन मिला, भाषा मिली और हमने विकास की सीमा यहीं तक मान ली। यह विकास की अन्तिम सीमा नहीं है। इससे आगे भी विकास की बहुत सम्भावना है, परंतु उस संभावना का द्वार तब तक नहीं खुलता जब तक हम भाषा और मन को समाप्त करने की स्थिति तक नहीं पहुंच जाते। भाषा का न होना, चिन्तन का न होना अविकसित दशा है, किन्तु भाषा और चिन्तन के होने पर भी उनका प्रयोग न करना विकास की दिशा में पहला प्रस्थान है। जो व्यक्ति अपनी चेतना के नए आयामों



को खोलना चाहता है, अपनी चेतना को विस्तार देना चाहता है, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह मन के होते हुए भी अमन की स्थिति का अनुभव करे। वाक् होते हुए भी अवाक् का अनुभव करे। जब भाषा और मन का प्रयोग रुकता है, तब चेतना का नया द्वार खुलता है।

### वर्तमान शिक्षा: जीवन की उपेक्षा

मनुष्य एक ऐसा प्राणी है, जो शिक्षा प्राप्त करता है, शिक्षित होता है। दूसरे प्राणी शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते। पूरी मनुष्य जाति दो श्रेणियों में विभक्त है। जो मनुष्य भाषा पर अधिकार जमाए हुए है, जो कुछ विषयों को अपनी बुद्धि के भरोसे सौंप देता है, वह शिक्षित श्रेणी में आता है। जिसको भाषा पर कोई अधिकार नहीं मिला, जिसका बुद्धि-वैभव शून्य है, वह अशिक्षित श्रेणी में आता है। सब लोग शिक्षा को जरूरी मानते हैं और इसलिए मानते हैं कि यदि समाज में रहना है, समाज में जीना है तो मनोविज्ञान का अध्ययन करना होगा, समाजशास्त्र का अध्ययन करना होगा। मनुष्य को भूख लगती है, प्यास लगती है, उसमें काम की वासना जागती है। इन सबकी पूर्ति के लिए आदमी को अनेक प्रयत्न करने पड़ते हैं। उसके लिए गणितशास्त्र और व्यापारशास्त्र का अध्ययन जरूरी है। विद्या की जितनी शाखाएं हैं, उन सबका अध्ययन आदमी इसलिए करता है, विशेषतः व्यावसायिक विद्याओं का, कि उसकी भूख मिट सके। इस आधार पर एक भाषा बन गई कि जो व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को पूरी करने में सहायक होने वाली विद्याओं का अध्ययन करता है वह शिक्षित होता है। ये सारी बातें शिक्षा की सीमा में आ गईं। अपने वारे में कुछ जानना जरूरी है, ऐसी धारणा सामाजिक जगत् में अभी तक नहीं बनी है।

### भीतर है बदलाव का बिन्दु

आज सबसे बड़ी समस्या है उपादान और निमित्त की। आज का आदमी निमित्तों को बदल कर सब कुछ करना चाहता है। वह उपादान की ओर ध्यान ही नहीं देता। जब तक निमित्तों को बदलने की बात सामने रहेगी तब तक कोई न कोई कार्य आदमी के समक्ष रहेगा ही। एक निमित्त बदलता है, दूसरा सामने उपस्थित हो जाता है। फिर उसे बदलते हैं, तीसरा उभर आता है। इनका कहीं अन्त नहीं आता। उपादान को बदले बिना स्थायी बदलाव घटित नहीं होता। आज यह बात समझ में नहीं आ रही है। यही कारण है कि हजार प्रयत्न करने

पर भी आदमी नहीं बदलता। कैसे बदले? उपदेश की एक सीमा होती है। भाषा और विचार की अपनी सीमा है। भाषा और विचार-व्यक्ति को प्रेरित करते भी हैं और नहीं भी करते। अपनी-अपनी सीमा है। यह बदलने का निश्चित उपाय नहीं है। भाषा और विचार से यदि कोई नहीं बदलता तो वे व्यर्थ हो जाते हैं। उनकी व्यर्थता नहीं है। कुछ बदलता है, किन्तु जितनी मात्रा में बदलना चाहिए उतना नहीं बदलता। इसका कारण स्पष्ट है। जिस बिन्दु पर आदमी बदलता है, उस बिन्दु तक भाषा नहीं पहुंचती, उपदेश नहीं पहुंचता। बदलने का बिन्दु बहुत गहरे में है और भाषा तथा विचार ऊपरी सतह तक ही पहुंच पाते हैं। इस स्थिति में बदलाव कैसे हो? जिसको बदलना है, वहां तक पहुंचने पर ही बदलाव घटित हो सकता है, अन्यथा नहीं।

जब तक चित्त को स्थिर नहीं किया जाता, मन की चंचलता को कम नहीं किया जाता तब तक भीतर में जो पहुंचना चाहिए, वह नहीं पहुंचता। बदलाव और विकास की प्रक्रिया का पहला सूत्र है-मन को शान्त-स्थिर करना। मन की ऐसी स्थिति का निर्माण हो, जिसमें चिंतन भी नहीं, कल्पना की तरंग भी नहीं और स्मृति का एक कण भी नहीं। स्मृति-मुक्त, कल्पनामुक्त और चिन्तनमुक्त स्थिति का निर्माण हो। ऐसा होने पर भीतर तक जाने वाला प्रत्येक मार्ग साफ हो जाता है। उसमें कोई अवरोध नहीं रहता।

### मन और प्राण शक्ति की उपेक्षा

एक प्रश्न है-बदलने के हजारों प्रयत्न चल रहे हैं, फिर भी निष्पत्ति क्यों नहीं आती? इसका एक ही कारण है कि हमने बदलने को शिक्षा का अंग नहीं माना। आज बुद्धि के विकास को शिक्षा का अंग माना जाता है पर मन को शिक्षा का विषय बनाया ही नहीं गया। आज की शिक्षा से बुद्धि तेज होती है। उसकी धार बहुत तीखी हो जाती है, पर बेचारी बुद्धि क्या करेगी? जितनी बुराइयां और विकृतियां हैं, वे सब मन की चंचलता से उत्पन्न होती हैं। उनकी उत्पत्ति में बुद्धि का कोई हाथ नहीं है। मन को शिक्षित किए बिना इन विकारों से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। आज की शिक्षा में मन को प्रशिक्षित करने का कोई प्रावधान नहीं है। शिक्षा की परिधि में और सब विषय आ गए, पर मन को शिक्षित करने का कोई उपक्रम नहीं आया। जब तक मन प्रशिक्षित नहीं होता तब तक यदि हम व्यक्ति को बदलना चाहें, अच्छा बनाना चाहें, यह कभी संभव नहीं हो सकता। सबसे महत्वपूर्ण कार्य है मन को शिक्षित करना।

आज की शिक्षा-प्रणाली में यही एक सबसे बड़ी कमी है। उसमें इस ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता। आदमी को उसकी भीतरी शक्तियों से परिचित नहीं कराया जाता। कोई भी विद्यार्थी यह नहीं जानता कि उसके भीतर ऐसी शक्ति भी है, जो ऐसे समय में काम दे सकती है जहां शरीर की शक्ति भी व्यर्थ हो जाती है। आज के विद्यार्थी को अपनी प्राणशक्ति पर भरोसा नहीं है, जानकारी नहीं है। यह देखा जाता है कि एक कमजोर व्यक्ति भी प्राण शक्ति के आधार पर ऐसा काम कर लेता है, जिस शक्ति के अभाव में एक हट्टा-कट्टा आदमी भी नहीं कर पाता। शरीर-बल ही सब कुछ नहीं है। शरीर के आधार पर व्यक्तित्व का और शक्ति का निर्णय नहीं हो सकता। एक दुबला-पतला आदमी हट्टे-कट्टे आदमी से भिड़कर उसे नीचे गिरा देता है। गिराने वाली शक्ति शरीर की नहीं होती, वह होती है प्राण की। आज की शिक्षा पद्धति में प्राण की शक्ति का कोई प्रशिक्षण नहीं है। उस पर विचार भी नहीं किया गया है।

### संरक्षण प्राण शक्ति का

आज का आदमी धर्म, अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को मानता है। कितना जानता है, यह अलग प्रश्न है, पर वह मानता अवश्य है। प्रश्न होता है कि अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पर इतना बल क्यों दिया जाता है? दूसरा प्रश्न है-अहिंसा आदमी को कायर बनाती है। ब्रह्मचर्य आदमी को पागल और विक्षिप्त बनाता है। अपरिग्रह आदमी को भिखारी बनाता है। इतना होने पर भी इन पर इतना बल क्यों? इन पर बल देने का एक ही रहस्य था कि आदमी की प्राणशक्ति का व्यय कम हो, वह सुरक्षित रहे, उसका संवर्धन हो। एक प्राणशक्ति बढ़ती है तो अनेक शक्तियां बढ़ती हैं। प्राणशक्ति के अभाव में कोई भी बड़ी शक्ति विकसित नहीं होती।

### अनियन्त्रित काम : पागलपन का कारण

कुछ मनोवैज्ञानिक मानते हैं-ब्रह्मचर्य की कोई जरूरत नहीं है मनुष्य के लिए। इससे आदमी ग्रंथिल होता है। वे कहते हैं-अपरिग्रह की रट ने देश को दरिद्र बना डाला है। उन मनोवैज्ञानिकों की पहुंच वहीं तक हो पाई थी। अब्रह्मचर्य के द्वारा शक्ति का कितना व्यय होता है? प्राणशक्ति का कितना खर्च होता है? आज की पूरी पश्चिमी सभ्यता में जो एक मानसिक विक्षेप आया है, उसको सबसे बड़ा कारण है यौन स्वच्छन्दता। वहां काम-सेवन पर न सामाजिक

प्रतिबन्ध है और न आन्तरिक प्रतिबन्ध। उसका परिणाम है—वहां पागलपन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। यह निश्चित है कि आदमी जितना अधिक कामुक होगा, शक्ति का उतना ही क्षरण अधिक होगा। जब शक्ति ज्यादा क्षीण होती है तब चित्त में बेचैनी, पागलपन और अस्त-व्यस्तता आती है। फिर उस व्यक्ति में शान्ति की भूख जागती है। वह खोजता है, शांति कैसे मिले? अशांति और है क्या? अशांति और कुछ भी नहीं। शक्ति का जितना अधिक क्षरण होता है, उतनी ही मात्रा में अशांति भीतर जागती है। हिंसा ने आदमी को कितना क्रूर और पागल बनाया है? परिग्रह के चिंतन और ममत्व ने प्राणशक्ति का कितना क्षरण किया है?

प्राणशक्ति के विषय में आज कहीं कोई चिन्तन नहीं है। सब हिंसा-अहिंसा की चर्चा में और ब्रह्मचर्य अब्रह्मचर्य की चर्चा में ही उलझ जाते हैं। परिग्रह और अपरिग्रह को वाद-विवाद का विषय बना देते हैं परन्तु इन सबके पीछे जो मूल कारण था, वह था प्राणशक्ति का संरक्षण। यह भी खोज लिया गया—चित्त का जितना असंतुलन, जितनी विषमता होगी, प्राणशक्ति का व्यय भी उतना ही अधिक होगा। प्रियता और अप्रियता का संवेदन जितना होगा, प्राणशक्ति का व्यय भी उतना ही अधिक होगा इसलिए एक सूत्र दिया समता, सामयिक और संतुलन का। प्रिय-अप्रिय परिस्थिति होने पर मन का संतुलन न बिगड़े, समभाव बना रहे। समभाव और समता से प्राणशक्ति का संवर्धन होता है, संरक्षण होता है। समभाव का अभ्यास मन का तीसरा आयाम है। आदमी मन के दो आयामों में जीता है। एक प्रियता का आयाम और दूसरा है अप्रियता का आयाम। समता का आयाम उसे कभी नहीं मिला।

### दुष्परिणाम असंतुलन के

यथार्थ में शिक्षा का मूल उद्देश्य है—मन का संतुलन, मन की शांति, मन का निर्विकल्प होना। इस ओर लोगों ने कभी ध्यान ही नहीं दिया। शिक्षा-जगत् में भी यह उद्देश्य उपेक्षित ही रहा। व्यक्ति पढ़-लिखकर अच्छा वैज्ञानिक बन जाता है, इन्जीनियर या डाक्टर बन जाता है, विशेषज्ञ बन जाता है, फिर भी वह लड़ाई करता है, निन्दा और ईर्ष्या में फंसा रहता है, आत्महत्या कर लेता है। यह क्यों? यह बड़ा प्रश्न है। अशिक्षित व्यक्ति बुराईयों में फंसे, यह समझ में आ सकता है, परन्तु शिक्षित व्यक्ति भी उतनी ही बुराई करे, यह आश्चर्य है। एक वैज्ञानिक जब ईर्ष्या और आवेश की ज्वाला में जल उठता है और

आत्महत्या कर लेता है तब आश्चर्य होता है। शिक्षा से उसे क्या मिला? क्या शिक्षा से वह इतना भी अनुशासन नहीं सीख सका कि अनुकूल-प्रतिकूल स्थिति में अपना संतुलन रख सके? इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि आज की शिक्षा का उद्देश्य केवल बौद्धिक प्रश्नों को उभार देना है और उनको बौद्धिक समाधान दे देना मात्र है। सारी शिक्षा इसी सीमा में चल रही है। दो विद्वान मिलते हैं, दो पण्डित मिलते हैं और आपस में विवाद शुरू हो जाता है, लड़ाई प्रारम्भ हो जाती है। इस स्थिति में चरित्र और आचार का आधार क्या होगा?

हम अपेक्षा करते हैं कि आज की शिक्षा से अच्छी पीढ़ी का निर्माण हो, अच्छा समाज बने, बुराइयाँ कम हों। शिक्षा-शास्त्री और अभिभावक भी यही चाहते हैं कि बच्चे सुसंस्कारित बनें, अच्छे बनें, अच्छे नागरिक बनें किन्तु उन सबकी यह चाह या धारणा सफल नहीं होती क्योंकि जो मार्ग चुना है, वह सही नहीं है।

### सहिष्णुता का विकास

एक बहुत बड़ी शक्ति है-सहिष्णुता। सहिष्णुता का विकास तब होता है जब सुविधा और सहारे की बात नहीं सोची जाती। जो कष्ट सहते हैं, कठिनाइयाँ झेलते हैं, वे सहिष्णुता का विकास कर लेते हैं।

जो पौधे प्रारम्भ में तूफान के प्रहारों को सह लेते हैं, वे मजबूत हो जाते हैं, वे कभी उखड़ते नहीं। जो पौधे बांध दिए जाते हैं, वे उस तूफान से तो बच जाते हैं, पर जीवन भर कमजोर रह जाते हैं। प्रतिपल उनके उखड़ने की आशंका बनी ही रहती है। जो दूसरों के सहारे जीता है, वह कमजोर रह जाता है।

जीवन-विज्ञान की शिक्षा का एक परिणाम है-सहिष्णुता का विकास। यह विद्याशाखीय शिक्षा के द्वारा कभी उपलब्ध नहीं हो सकता। विद्या की जितनी शाखाएं हैं उन सबको पढ़ लो, किन्तु सहिष्णुता की शक्ति नहीं जाग पाएगी, समता का विकास नहीं हो पाएगा। विद्या की एक शाखा-जीवन-विज्ञान, एक ऐसा माध्यम बन सकती है, जो आदमी की आन्तरिक शक्तियों को जगाकर उसके व्यक्तित्व को सर्वांग सुन्दर बना सकती है। जीवन विज्ञान के मूल्यांकन और प्रयोग की अनिवार्यता को स्वीकारा जाए तो सहिष्णुता और मनोबल की समस्या समाहित हो सकती है।

## सहिष्णुता: शरीर सिद्धि की प्रक्रिया

हम जिस दुनिया में जी रहे हैं वह संयोग-वियोग की दुनिया है। न जाने प्रतिदिन कितनी करुण घटनाएं घटित होती हैं, दुर्घटनाएं होती हैं। अनेक व्यक्ति मर जाते हैं। धन चला जाता है। अनेक विकट परिस्थितियां पैदा होती हैं। आदमी में उन्हें झेलने की शक्ति नहीं रहती। इस स्थिति में क्या यह सम्भव है कि हमारी शिक्षा हमें कोई सहारा दे? आज की शिक्षा के साथ यह शिक्षा अवश्य ही जोड़नी होगी, और वह शिक्षा है अपने आपको देखने की शिक्षा, मनोबल को विकसित करने की शिक्षा, सहिष्णुता को बढ़ाने की शिक्षा।

जैन मुनि सर्दी में एक कपड़ा ओढ़ते हैं, दो कपड़ा ओढ़ते हैं। गर्मी में आतप लेते हैं। चिलचिलाती धूप में शिला पर दो-तीन घंटा लेट जाते हैं। ऐसा लगता है-यह कितना कठोर कर्म है! कितनी कठोर तपश्चर्या है! क्या यह आवश्यक है? क्या यह व्यर्थ प्रयत्न नहीं है? शरीर को कपड़ों की जरूरत है तो फिर एक या दो कपड़े ही क्यों ओढ़े जाते हैं ? जब शरीर को छाया की जरूरत है तो फिर धूप का सेवन क्यों किया जाता है ? शरीर को अनावश्यक कष्ट और क्लेश दिया जाए ? बड़ा अजीब है यह धर्म !

अनुभवों से गुजरने के बाद यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जब तक साधक काया को नहीं साध लेता, कायसिद्धि नहीं कर लेता, तब तक सत्य के शोध की मंजिल तो तय होती ही नहीं , असत्य के भयंकर परिणाम भी भुगतने पड़ते हैं। कायक्लेश शरीर को सताने की प्रक्रिया नहीं है, यह शरीर को साधने की प्रक्रिया है। इसके द्वारा शरीर इतना साध लिया जाता है कि वह हर परिस्थिति को झेल लेता है । जैसे-जैसे श्वास के प्रति जागरूकता होती है, वैसे वैसे काया की सिद्धि सधती जाती है। श्वास की आंच में तपने वाली काया कभी कच्ची नहीं रहती । भगवान् महावीर ने भयंकर कष्ट सहे। अन्यान्य साधकों ने भी कष्ट सहे । क्या वे उन कष्टों का प्रतिकार नहीं कर सकते थे । उनके सामने दो मार्ग थे । एक था सहने का मार्ग और दूसरा था प्रतिकार का मार्ग । उन्होंने सहने के मार्ग को अपनाया । वे कष्टों को सहते गए । सहते-सहते उनका समूचा शरीर चुम्बकीय-क्षेत्र बन गया।

## प्रक्रिया पारदर्शन की

हम कांच में मुंह देख सकते हैं, क्योंकि वह निर्मल है। पारदर्शी कांच के द्वारा हम पार की वस्तु देख सकते हैं, पर पहले पारदर्शी होना होता है।

पारदर्शी अवस्था प्राप्त होने पर पार की वस्तु देखी जा सकती है। अतीन्द्रिय-ज्ञान-चेतना का अर्थ है पार की वस्तु को प्रत्यक्ष देख लेना। पार की चेतना तब जागेगी जब पूरा शरीर चुम्बकीय-क्षेत्र बन जाएगा।

ओकल्ट साइन्स के वैज्ञानिकों ने यह तथ्य प्रकट किया कि आदमी जब तक अपने शरीर के विशिष्ट केन्द्रों को चुम्बकीय-क्षेत्र नहीं बना लेता, एलेक्ट्रोमैग्नेटिक फील्ड नहीं बना लेता, तब तक उसमें पारदर्शन की क्षमता नहीं जाग सकती। चैतन्य-केन्द्रों और चक्रों की सारी कल्पना का मूल उद्देश्य है-शरीर को चुम्बकीय-क्षेत्र बना लेना। सहिष्णुता और समभाव वृद्धि के प्रयोग, उपवास, आसन, प्राणायाम, आतापना, सर्दी-गर्मी को सहने का अभ्यास- इन सारी प्रक्रियाओं से शरीर के परमाणु चुम्बकीय-क्षेत्र बदल जाते हैं और वह क्षेत्र इतना पारदर्शी बन जाता है कि उस क्षेत्र से भीतर की चेतना बाहर झांक सकती है।

### जीवन विज्ञान : आत्म संयम का प्रशिक्षण

जीवन विज्ञान की शिक्षा का तात्पर्य है-मन, वाणी और काया को शिक्षित करना। शरीर को शिक्षित करने का तात्पर्य है- एक ही आसन में लंबे समय तक बैठे रहने की क्षमता प्राप्त कर लेना, आसन-सिद्धि कर लेना। वाणी को शिक्षित करने का अर्थ है- मन में कितनी ही तरंगे उठें, पर बोलने की कोई धारा का नहीं होना। मन को शिक्षित करने का अर्थ है- अनर्गल स्मृति, कल्पना और चिन्तन से बचना।

आज अंतरिक्ष की यात्राएं होने लगी हैं। अंतरिक्ष यात्री को योग का प्रशिक्षण दिया जाता है क्योंकि वहां उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जो व्यक्ति केवल प्रवृत्ति में होता है, वह व्यक्ति उन कठिनाइयों का सामना नहीं कर सकता। अंधेरे को सहन करना, अकेलेपन को सहन करना, अकेले में उदास न होना, पागल न होना, बहुत संयत रहना- ये सारी स्थितियां योग साधना के बिना संभव नहीं हो सकती, इसलिए योग का प्रशिक्षण देना अनिवार्य हो जाता है।

क्या जीवन की यह दीर्घ यात्रा अन्तरिक्ष यात्रा से कम है? अन्तरिक्ष यात्रा में दस-बीस-पचास दिन लग सकते हैं, पर जन्म से मृत्यु तक की यात्रा, ७०-८० वर्ष की यात्रा, बहुत लंबी होती है। एक जीवन में हजारों अन्तरिक्ष यात्राएं समाप्त हो जाती हैं। इस जीवन यात्रा में कितनी कठिनाइयां आती हैं ?

उस अवस्था में हम असहाय होते हैं, क्योंकि आज की शिक्षा से दिमाग में और-और तत्त्व तो भर दिए जाते हैं, किन्तु असहाय की स्थिति होने पर उससे लोहा लेने की बात नहीं सिखाई जाती। आदमी घुटने टेक देता है और नष्ट हो जाता है। यह कहा जा सकता है कि आज की शिक्षा-पद्धति ने आदमी को केवल भागना सिखाया है।

जो लोग आज शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, वे सीखते हैं कि जो भी समस्या आए, उसका सामना मत करो, पलायन कर दो, भाग जाओ, घुटने टेक दो।

### जीवन विज्ञान : शक्ति का जागरण

ध्यान जीवन विज्ञान की शिक्षा का अनिवार्य अंग है। जो व्यक्ति मन को शिक्षित करना जान लेता है, कठिनाइयों को झेलना सीख लेता है, परिस्थितियों में अड़िग खड़ा रहना सीख लेता है, घुटने नहीं टेकता, वह व्यक्ति यथार्थ में ध्यान का अधिकारी होता है। वही वास्तव में ध्यान कर सकता है, वही ध्यान में सफल हो सकता है।

शिक्षा के द्वारा मनुष्य शिक्षित कहलाता है और वह सर्वत्र आदर पाता है। वह आदरास्पद होता है। हमें इसके साथ यह भी जोड़ देना है कि ज्ञानी की अपेक्षा चरित्रवान् व्यक्ति अधिक आदरास्पद होता है। ज्ञानी के प्रति अंगुलियां उठ सकती हैं किन्तु चरित्रवान के प्रति सहजतया अंगुलियां नहीं उठतीं। उसके प्रति सहज आदर भाव होता है।

हमारे समक्ष दो दिशाएं हैं। एक है ज्ञान की दिशा और दूसरी है चरित्र की दिशा। इन दोनों में महत्त्वपूर्ण है चरित्र का विकास। चरित्र का विकास जीवन-विज्ञान की शिक्षा के बिना संभव नहीं है। ध्यान और कुछ नहीं है। वह है अपने आपको जानना, अपने मन को शिक्षित करना, अपनी सहिष्णुता की शक्ति को बढ़ाना। हमारे भीतर सहन करने की अनन्त शक्ति विद्यमान है। उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते किन्तु वह सोयी पड़ी रहती है। जीवन विज्ञान उसे जगाने का उपक्रम है।

### जीवन विज्ञान : आज की अपेक्षा

बाह्य जगत् और अन्तर जगत् में असंतुलन भी एक समस्या है। बाह्य जगत् और अन्तर जगत्- दोनों वास्तविक हैं। दोनों को स्वीकार करना है। व्यवहार को भी स्वीकार करना है और निश्चय को भी स्वीकार करना है। दोनों के बीच संतुलन स्थापित करना ही जीवन का विज्ञान है और यह



शिक्षा-प्रणाली का अनिवार्य अंग होना चाहिए ।

हमारी शिक्षा ओब्जेक्टिव है । आज शिक्षा ज्ञेय की होती है, ज्ञाता की नहीं होती । हम ज्ञेय को बहुत जानते हैं, पर ज्ञाता को नहीं जानते । जानने वाले को हम नहीं जानते, जो जाना जाता है उसे बहुत जानते हैं ।

आदमी के सामने सबसे पहला प्रश्न है-भोजन और शरीर का । शिक्षा का ध्यान इस पर सबसे अधिक केन्द्रित हुआ । उसने मनुष्य का यह रास्ता प्रशस्त किया कि प्रत्येक आदमी आजीविका प्राप्त कर सके, जीवन-यात्रा का निर्वाह कर सके, शरीर को पोषण दे सके, भोजन की सामग्री जुटा सके । किन्तु मनुष्य शरीर मात्र नहीं है । उसके पास शरीर है, प्राण है, इन्द्रियाँ हैं, भाषा है, मन है, बुद्धि है । इतना तो दृश्य है । अदृश्य इससे बहुत बड़ा है । उसे हम एक बार छोड़ दें, यह मानकर कि अदृश्य पर किसी का विश्वास जमता है और किसी का नहीं भी जमता, किन्तु दृश्य जगत भी कम छोटा नहीं है । मन की शक्ति बहुत बड़ी है । बुद्धि का साम्राज्य बहुत विशाल है । इन्द्रियों की शक्ति बहुत विपुल है । भाषा और प्राण का बल भी अद्भुत है । ये सब हमारे सामने हैं । तो क्या शिक्षा मात्र इतनी ही है कि जिससे शरीर को पोषण मिले और उसकी आवश्यकताएं पूरी हो जायें ? शिक्षा का क्षेत्र इतना सीमित नहीं है । शिक्षाविदों ने इस पर ध्यान भी दिया है । उन्होंने अपनी शिक्षा की व्यवस्था में शारीरिक विकास के साथ-साथ मानसिक और बौद्धिक विकास की भी व्यवस्था की है। उसकी पूरी समायोजना है । वे चाहते हैं एक बच्चे का शारीरिक विकास भी हो, मानसिक विकास भी हो और बौद्धिक विकास भी हो । इन तीनों की पूरी व्यवस्था है । इससे आगे वे व्यवस्था कर भी नहीं सकते । कैसे करते ? जो शिक्षाशास्त्री हैं, वे भी तो उसी दुनिया के प्राणी हैं, जिस दुनिया में विद्यार्थी जीते हैं, अभिभावक जीते हैं और दृश्य-जगत् की पूरी कल्पना के साथ जीते हैं । दृश्य-जगत् से परे उनकी कोई योजना नहीं हो सकती, कोई व्यवस्था नहीं हो सकती और वे कर भी नहीं सकते । जीवन-यात्रा के लिए यह मान लिया गया है कि शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास पर्याप्त है । यह मानना भ्रांतिपूर्ण है, अधूरा है, पर मान लिया गया है ।

### प्राणी का कर्तृत्व

बड़ा आश्चर्य होता है कि जो मूल है वह बेचारा दुःख पा रहा है, और

जो गौण है, सहायक है, वह अपना पूरा आधिपत्य जमाए बैठा है। ज्ञाता मूल है। जानने वाला मूल है। यदि जानने वाला न हो इस दुनिया में तो पदार्थ पदार्थ रहेगा, उसमें कोई बड़ा परिवर्तन नहीं आ पाएगा। सारे परिवर्तन ज्ञाता करता है। ज्ञाता है मनुष्य। सभी परिवर्तनों का घटक है मनुष्य। सारे परिवर्तन प्राणी करता है। इस स्थूल दुनिया का विकास प्राणी ने किया है। प्राणी चाहे छोटा हो या बड़ा, उसमें परिवर्तन की क्षमता होती है। प्राणी ने इस जगत् को दृश्य बनाया है। यह दृश्य सृष्टि प्राणियों की संरचना है। जितने पहाड़ बने हैं, वे प्राणियों द्वारा निर्मित हैं। पानी और अग्नि प्राणियों द्वारा निर्मित हैं। हवा प्राणियों के आधार पर चलती है। सारा वनस्पति जगत् प्राणियों की देन है। जो चल जगत् है, दो इन्द्रिय वाले प्राणियों से लेकर पांच इन्द्रियों वाले प्राणियों तक, वह इस दुनिया का निर्माता है। वे प्राणी ही सृष्टि की सर्जना कर रहे हैं। यदि ईश्वर को इस अर्थ में सृष्टि का कर्ता माना जाए तो वह गलत नहीं है। सृष्टि का कर्ता तो कोई न कोई है ही। बिना कर्ता कोई चीज कैसे बनेगी? अन्तर इतना ही है कि वह कर्ता कोई एक शक्ति नहीं है, एक सत्ता नहीं है, किन्तु अनगिनत सत्ताएं और अनन्त शक्तियां हैं, जो हमारी सृष्टि का निर्माण करती हैं। यदि एक ज्ञाता न रहे, एक प्राणी न रहे, एक चेतन सत्ता न रहे तो फिर कोरा अंधकार ही अंधकार होगा, प्रकाश का प्रश्न ही नहीं उठेगा। प्रकाश की सारी परिकल्पना प्राणी ने की है। प्रकाश का सारा विकास प्राणी ने किया है। दुनिया में जो कुछ प्रकाश की किरणें हैं, वे सब प्राणियों की देन हैं।

### ज्ञाता से अज्ञात

आश्चर्य इस बात का है कि चेतन सत्ता, प्राणी की सत्ता-या कहें कि हमारे जगत् की जो मूल सत्ता है, उसके विषय में हमारी कोई जानकारी नहीं है। अपने स्वयं के बारे में ज्ञाता के बारे में कोई जानकारी नहीं है और ज्ञेय के विषय में दुनिया भर की जानकारी है। यह इस सत्य का द्योतक है कि जो मूल व्यक्ति है वह बेचारा दर-दर का भिखारी बनकर भीख मांग रहा है और उसका चित्र, उसका प्रतिबिम्ब हजारों में बिक रहा है। बिम्ब रो रहा है, प्रतिबिम्ब हंस रहा है।

ऐसा ही कुछ हो रहा है आज की शिक्षा जगत् की परिक्रमा में। वास्तविकता यह है कि जो मूल है, उसकी जानकारी सबसे पहले होनी चाहिए, पर वह बेचारा उपेक्षित-सा कहीं कोने में बैठा सिसक रहा है और जानने वाला

उन सबको जान रहा है, जिनको जानने की जरूरत शायद उतनी कभी नहीं रही होगी।

हम इस तथ्य को निश्चित रूप से जानते हैं कि कोई भी एक आदमी सारी विद्याओं का ज्ञाता नहीं हो सकता। अपने पूरे जीवन में सारी विद्याएं नहीं जानी जा सकतीं। हमारी इस दुनिया में इतनी विद्याएं हैं कि जिनकी गिनती करना भी कठिन है। हजारों प्रकार के शिल्प हैं, हजारों कलाएं हैं, हजारों विद्याएं हैं। एक आदमी इन सबको कैसे जान सकता है ? एक आदमी हजारों के आधार पर जीता है। आज कोई आदमी रोटी खाता है, जीता है तो क्या वह अपने अकेले के बलबूते पर जीता है ? इसका उत्तर हां में नहीं दिया जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के सहारे जीता है। एक-दो के सहारे नहीं, हजारों आदमियों के सहारे जीता है।

खेती दूसरा करता है, अनाज उसे मिल जाता है। चीनी दूसरा बनाता है, चीनी उसे मिली जाती है। बीमारी होती है तो डॉक्टर के सहारे जीता है। मुकदमा लड़ना होता है तो वकील के सहारे लड़ता है। हिसाब करना होता है, तो हिसाब-परीक्षक के सहारे करता है। आदमी कितने सहारों से पलता है! कितने सहारों से जीता है! इस दुनिया में केवल अपने ही सहारे पलने वाला, जीने वाला कोई नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो समाज कभी नहीं बनता। समाज इसीलिए बना कि व्यक्ति अकेला कभी जी नहीं सकता। समाज है, सहारा है, इसलिए वह जी रहा है। यह मानना होगा कि मनुष्य को अनेक विद्याओं की जरूरत होती है और शिक्षा-शास्त्रियों ने अनेक विद्याओं का विकास भी किया फिर भी प्रश्न उठता है-आज शिक्षा-प्रणाली में कोई कमी है? बार-बार यह स्वर क्यों उभरता है ? जो शिक्षाशास्त्री है, वे भी यह कहते हैं कि शिक्षा की पद्धति समुचित नहीं है। राजनेता भी यही कहते हैं पर वह समुचित या अच्छी क्यों नहीं है, यह कोई नहीं जानता। शिक्षा में क्या कमी है, उस कमी को कैसे पूरा किया जाए, इसे कोई नहीं जानता। इन पच्चीस-तीस वर्षों में शिक्षा से सम्बन्धित कितने आयोग बैठे, पर आज तक कोई समाधान नहीं मिला। यह शिक्षा जगत् की बहुत बड़ी समस्या है। इस समस्या में अध्यात्म भी जुड़ा है, ध्यान और साधना भी जुड़ी हुई है।

### अनुभव अधूरेपन का

आज सबसे बड़ी कमी है, जो अनुभव में आ रही है, वह यह है कि

आज के आदमी में अनुशासन नहीं है। प्रयत्न होता है कि विद्यार्थी में अनुशासन आए। अनुशासनहीनता कोई नहीं चाहता। पिता यह नहीं चाहता कि घर में अनुशासन न हो। गुरु भी नहीं चाहता कि शिष्य अनुशासन में न रहे। प्रत्येक व्यक्ति अनुशासन चाहता है। इतनी चाह होने पर भी अनुशासन नहीं आ रहा है। यह बहुत बड़ी समस्या है। जिसकी चाह हो और वह नहीं हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं किन्तु जिसकी अत्यन्त आवश्यकता हो और वह प्राप्त न हो तो लगता है कि कहीं न कहीं कुछ कमी है।

अनुशासन आता है बुद्धि से परे और शिक्षा रह जाती है बुद्धि की सीमा में ही। एक है वह तट और दूसरा है यह तट। इस तट पर खड़ा आदमी यह चाहे कि वह तट यहां आ जाए, यह कभी संभव नहीं है। दो तट कभी आपस में मिलते नहीं। यदि मिल जाएं तो वे फिर तट नहीं रहते। बीच में पानी की धारा बह रही है, दोनों मिले हुए नहीं हैं, इसीलिए तट हैं। इसी प्रकार हमारे भी दो तट हैं। एक है बौद्धिकता का तट और दूसरा है अनुशासन का तट। बौद्धिकता में ज्ञान की सारी प्रक्रियाएं आ जाती हैं। मन का विकास हो, चाहे इन्द्रियों का विकास हो, यह इसी तट की बात है। एक दूसरा तट है अनुशासन का। जब तक आदमी इस तट को छोड़कर उस तट पर नहीं पहुंचेगा, तब तक अनुशासन नहीं आएगा।

### बुद्धि के परिणाम

आश्चर्य होता है यह देखकर कि पढ़ा-लिखा आदमी भी बहुत क्रोध करता है। पढ़ा-लिखा आदमी भी बेईमानी करता है, चोरी करता है, दूसरों को कष्ट देता है पर इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है क्योंकि वह पढ़ा-लिखा है, उसमें बुद्धि का विकास हुआ है और बुद्धि का काम ही है- तर्क पैदा करना। तर्क सिखाता है अपना घर भरना और दूसरे को धोखा देना। यह उसके लिए असम्भव नहीं है। ये सब बुद्धि की सीमा में आने वाले कार्य हैं। तब आश्चर्य क्यों होता है? एक बुद्धिमान् व्यक्ति, एक विद्वान् या न्यायशास्त्री ये सारे कार्य करते हैं तो आश्चर्य जैसा क्या है? एक व्यापारी यदि स्मगलिंग करता है, मिलावट करता है, एक राज्य-कर्मचारी यदि रिश्वत लेता है तो हम बुरा मानते हैं पर बुरा क्यों है? उन्हें जो अनुशासन मिला है, उसकी सीमा में ये सारे कार्य वैध माने जाते हैं। इनका आधार है उपयोगिता। उपयोगिता होती है तो स्त्रियों को आबादी बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है और अनेक

बच्चों की मां को पारितोषिक दिया जाता है। उपयोगिता न हो तो नियन्त्रण की बात आ जाती है। उपयोगिता के आधार पर समाज ऐसी बात भी सोच लेता है कि समाज से बूढ़ों को समाप्त कर दिया जाए। ये सारी बातें बुद्धि की सीमा में अविहित नहीं हैं। फिर आश्चर्य कैसा?

### तरंग : भावों की तट की

आश्चर्य का स्वर आता है दूसरे तट से। हम दूसरे तट पर खड़े होकर ऐसी बात करते हैं। यह भा बहुत बड़ा आश्चर्य है। यह सारा हमारा भावपक्ष है। एक व्यक्ति क्रोधी है, एक अभिमानी है। एक व्यक्ति हीनभावना से ग्रस्त है और एक व्यक्ति अहं से ग्रस्त है। एक व्यक्ति कायर है और एक व्यक्ति साहसिक है। एक लड़ाकू है। ये जितने भी आवेग हैं, ये जितनी भी तरंगें हैं, ये उस तट को छूकर आ रही हैं। एक अविकसित बालक भी इन भाव-तरंगों से प्रभावित हो जाता है।

वह भावना से परे नहीं जा सकता। मन की चंचलता, बुद्धि के गलत निर्णय, इन्द्रियों की चंचलता- ये सारे अपने आप में दोषी नहीं हैं। इनमें न मन का दोष है, न बुद्धि का दोष है और न इन्द्रियों का दोष है। इनका दोष भी नहीं है, अदोष भी नहीं है। जितने दोष या अदोष, बुराई और अच्छाई आती है वह उस तट से आती है। अच्छाई भी आती है तो उस तट से आती है और बुराई भी आती है तो उस तट से आती है।

### समाधान में बाधाएं

आज की शिक्षा का लंगड़ापन यह है कि हम इस तट के बारे में खूब जानते हैं, किन्तु उस तट के बारे में नहीं जानते जहां से ये सारी विकृतियां, ये सारे दोष आ रहे हैं। संभवतः शिक्षाशास्त्री यह मान बैठे हैं कि हमारा पूरा उपक्रम दृश्य जगत् के लिए हो सकता है। अदृश्य जगत् हमारा विषय नहीं है, हमारी शिक्षा का क्षेत्र नहीं है, शिक्षा की सीमा में नहीं है।

अपराधी अपराध करता चला जाता है। वह अपराध छोड़ना भी नहीं चाहता और कटघरे में खड़ा होना भी नहीं चाहता। इसी प्रकार आज आदमी की ऐसी मनोवृत्ति हो गई है कि जीवन में विकार आते हैं पर वह उन विकारों के प्रतिकार की बात नहीं सोचता और सुधार की बात करता चला जाता है। यह मनोवृत्ति जब तक चलेगी तब तक सुधार नहीं होगा। समस्या का समाधान नहीं होगा।

हमारे विद्यापीठ, शैक्षणिक संस्थान इस बात पर ध्यान दें या न दें किन्तु संघर्षमय सामाजिक जीवन जीने वाले प्रत्येक विद्यार्थी की यह दृष्टि निर्मित होनी चाहिए, उसे ऐसा सोचना चाहिए कि विद्यापीठ में जो कुछ मैंने सीखा है, वह अधूरा है। जब तक मैं जीवन विज्ञान की शिक्षा नहीं पा लूंगा तब तक सुख-चैन से नहीं जी सकूंगा।

एक दिन कुछ स्त्रियां और कुछ पुरुष सत्संग करने आए। वे सब सम्पन्न घरों से थे। उनके पास साधनों की कोई कमी नहीं थी। फिर भी वे सब दुःखी थे, मानसिक उलझनों से पीड़ित थे। दिन-रात बेचैन रहते। नींद भी पूरी नहीं आती, सब दुःखी। प्रश्न उठा- क्या वही बात नहीं हो रही है- जो मूल है वह तो लुप्त हो रहा है और साधनों का अंबार लगाया जा रहा है? जिसके लिये ये साधन हैं, वह स्वयं पीड़ित है, दुःखी है, फिर ये साधन किसके काम आएंगे? इनसे थोड़ी मानसिक तुष्टि अवश्य मिलती होगी पर वेदना इतनी प्रबल होती है कि वह मानसिक तुष्टि को लील जाती है।

इन सारे सन्दर्भों का फलित यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए जीवन विज्ञान की शिक्षा अनिवार्य है। जो व्यक्ति स्वतंत्र है, जिसमें निर्णय करने की क्षमता है, वह अपने हित-अहित को जानता-समझता है। वह यह भी जानता है कि मैं अपने भाग्य का निर्माता हूँ। मैं भाग्य की संरचना कर सकता हूँ। मेरी स्वतन्त्र सत्ता है। मेरा स्वतन्त्र अस्तित्व है। मेरा पुरुषार्थ और पराक्रम भाग्य की खींची हुई लकीरों को मिटा सकता है और नई लकीरें खींच सकता है।

जब हमारे में इतनी सामर्थ्य है तो हम कैसे उपेक्षा कर सकते हैं? प्रत्येक व्यक्ति यह सोचे कि विद्यापीठ में हम पचास प्रतिशत शिक्षा पाते हैं और पचास प्रतिशत शिक्षा हमें अध्यात्म के क्षेत्र में आत्मानुशासन की प्राप्त करनी है। यथार्थ में निन्यानवे प्रतिशत शिक्षा आत्मानुशासन को विकसित करने की होनी चाहिए और एक प्रतिशत शिक्षा बुद्धि को तीक्ष्ण करने के लिए होनी चाहिए। इसका अनुपात ही निन्यानवे प्रतिशत और एक प्रतिशत।

### मूल्य शिक्षा और आत्मानुशासन का

श्रीमज्जयाचार्य ने लिखा- 'जिसका स्वभाव और प्रकृति अच्छी होती है, जो आत्मानुशासी होता है, जो अपने आवेगों, आवेशों, वासनाओं और कामनाओं पर नियन्त्रण कर सकता है, जो अपनी आकांक्षाओं का प्रतिरोध कर सकता है, उन पर अनुशासन कर सकता है पर पढ़ा-लिखा नहीं है तो उस व्यक्ति की

नौली में निन्यानवे रुपये हैं, एक रुपया मात्र खाली है।

‘जो व्यक्ति अपने पर अनुशासन नहीं कर सकता, अपनी प्रकृति का स्वामी नहीं है, अपने आवेगों और आवेशों पर नियन्त्रण नहीं रख सकता पर पढ़ा लिखा है, तो उसकी नौली में केवल एक रुपया है, वह निन्यानवें रुपयों से खाली है’। कितना सुन्दर रूपक है!

जिस व्यक्ति ने अपने आपको नहीं संवारा, नहीं सजाया, उसकी थैली खाली है, वह स्वयं रिक्त है, फिर चाहे वह अनेक विद्याओं का ज्ञाता हो जाए, निष्णात हो जाए। ऐसा व्यक्ति परिवार, समाज और संसार के लिए कांटा ही बना रहेगा। आज के बड़े-बड़े राजनेता और वैज्ञानिक संसार के लिए कांटे बने हुए हैं, एक भयंकर खतरा पैदा किए हुए हैं, इसलिए कि वे सब दुनिया को नष्ट करने वाली सामग्री का अंبار लगाने में जुट हुए हैं। ऐसा पागलपन अतीत में कभी नहीं हुआ होगा, आज जीवन-मृत्यु में कोई दूरी नहीं रह गई है। किस क्षण क्या हो जाए, कोई निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता। विनाश की सामग्री जुटाने वाले और जिसको लक्ष्य कर सामग्री जुटाई जा रही है, वे दोनों विनाश के कगार पर खड़े हैं। कोई सुरक्षित नहीं है। क्यों आता है ऐसा पागलपन? यह पागलपन आता है आत्मानुशासन के अभाव में।

### समाधान का बिन्दु

आत्मानुशासन का मूल्य सर्वोपरि है। आत्मानुशासन ध्यान के अभ्यास के बिना नहीं आता। ध्यान और साधना की सारी पद्धतियां तथा आध्यात्मिक विकास के सारे उपक्रम आत्मानुशासन के लिए हैं। आत्मानुशासन के आने पर अन्यान्य विद्याएं भी पूर्णता को प्राप्त कर लेती हैं। फिर उनमें कोई अपूर्णता नहीं रहती।

प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करे कि शांतिपूर्ण जीवन या सुखी जीवन की प्रक्रिया तब तक पूरी नहीं होती जब तक कि आत्मानुशासन का पाठ पूरा नहीं पढ़ लिया जाता। प्रत्येक व्यक्ति इस सचाई को समझे- जो विद्याएं हमने विद्यापीठों में पाई हैं, वे सारी वस्तु-जगत् की विद्याएं हैं। वस्तु-जगत् की शिक्षा सदा अधूरी होती है। उसमें पूर्णता तब आएगी जब आदमी चेतन जगत् की विद्या को सीखेगा। यदि यह बात पूर्णरूप से समझ में आ जाए तो जीवन विज्ञान की अनिवार्यता समय में आ जाएगी।

## संयुक्त प्रयास

आज यह सामान्य रूप में कहा जाने लगा है कि आदमी के मन में धर्म के प्रति भावना नहीं रही। यह प्रश्नचिह्न नहीं, एक स्वाभाविक बात है और इसलिए है कि धर्म के संस्थानों को जो देना चाहिए, वह नहीं दिया जा रहा है। उन्हें प्रकाश देना चाहिए, पर वह नहीं मिल रहा है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि प्रकाश देने वाला भी अन्धकार उगलने लग जाता है। आज धर्म के संस्थान अन्धकार दे रहे हैं। वह अन्धकार बिखरने के लिए नहीं हैं। वह प्रकाश देने वाले हैं। वे प्रकाश-स्तंभ बनें और अध्यात्म का विकिरण करें। धर्म का संस्थान अध्यात्म और ध्यान का संस्थान बन जाये। वह हमारे आन्तरिक हेतुओं, कारणों, रसायनों और भावों को, जो हमें प्रमत्त कर रहे हैं, बदलने वाला बन जाए। इस प्रकार शिक्षण-संस्थान आदमी को शिक्षित करने का पचास प्रतिशत कार्य करेंगे और शेष पचास प्रतिशत कार्य करेंगे धर्म-संस्थान। दोनों के मिले-जुले प्रयत्न से एक अद्भुत व्यक्तित्व का निर्माण होगा परन्तु धर्म के संस्थान यह दायित्व उठा पायेंगे, यह कल्पना भी कुछ दुरुह लगती है। इसका कारण धार्मिक लोगों का यह चिन्तन है- धार्मिक उपदेश दे देना, धार्मिक चर्चाएं कर लेना, व्याख्यान दे देना आदि-आदि ही उनके कार्य हैं। किन्तु अध्यात्म को जगाने के लिए जितनी गहरी निष्ठा, जितनी तीव्र साधना, त्याग और तपस्या चाहिए तथा जितने शक्तिशाली उपक्रम चाहिए, वे नहीं होते हैं तो धर्म के संस्थान भी वैसा नहीं कर पाते और आज सचमुच धर्म के संस्थानों से वैसा नहीं हो रहा है।

## पहेली सुलझ सकती है

शिक्षा-क्षेत्र की अनेक समस्याएं हैं। उनका चिन्तन हमने किया है और समाधान के रूप में एक तथ्य निश्चित रूप से उभर कर आता है कि प्रत्येक शिक्षार्थी युवक एक वर्ष का पूरा समय जीवन-विज्ञान को समझने के लिए लगाए, अपने आत्मानुशासन के विकास के लिए लगाए। यदि प्रत्येक विद्यार्थी में यह भावना बलवती बन जाए और इसका पूरा चित्र समाज के सामने प्रस्तुत हो जाए तो यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि सरकार जिस शिक्षा की पहेली का समाधान नहीं कर सकती, अनुशासन की प्रतिष्ठापना नहीं कर सकती, उसको समाज अपने प्रयत्न और पुरुषार्थ से सुलझा देगा और यह धार्मिक जगत् का बहत बड़ा अन्दान होगा।



**अभ्यास**

१. प्रवृत्ति के इतने विकास के बाद निवृत्ति की और लौटना क्यों जरूरी हैं?
२. शिक्षित व्यक्ति भी आत्महत्या की बात सोच लेता है, अपना संतुलन खो देता है, ऐसा क्यों होता है और इन स्थितियों से शिक्षा का कौनसा दोष उजागर होता है?
३. क्यों जरूरी है सहिष्णुता की शिक्षा?
४. जीवन विज्ञान के अभिमत से बौद्धिक शिक्षा और अनुशासन की शिक्षा का अनुपात क्या होना चाहिए और क्यों?
५. वर्तमान शिक्षा की मुख्य समस्याओं पर प्रकाश डालिये।

# जीवन विज्ञान—शिक्षा की अनिवार्यता

## अध्यात्म की शिक्षा का प्रश्न

अध्यात्म की शिक्षा आवश्यक है, पर निर्विवाद नहीं। बहुत लोग इसे आवश्यक नहीं मानते। एक प्रश्न सदा उपस्थित होता है कि मनुष्य को जो चाहिए— वह सब हमारी विद्यालयी शिक्षा से मिल जाता है फिर यह धर्म की शिक्षा, नैतिकता की शिक्षा या अध्यात्म की शिक्षा का भार क्यों लादा जाए? धर्म की जटिलता भी है। सब विचार समान नहीं हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय की अपनी विचार-सारणी है, विचार शैली है और सिद्धांत भिन्न-भिन्न हैं, फिर एक विद्यार्थी पर इसका भार क्यों लादा जाए?

इस तर्क के आधार पर हमेशा अध्यात्म की शिक्षाओं को उपेक्षित किया गया। हमारी भूल वहां होती है जहां हम सम्प्रदाय और धर्म को, सम्प्रदाय और अध्यात्म को एक ही अर्थ में स्वीकार कर लेते हैं। तर्क से कोई न भी मानें किन्तु व्यवहार से कुछ ऐसा ही चल रहा है कि हमारी दृष्टि में धर्म या अध्यात्म सम्प्रदाय से भिन्न नहीं है।

## अध्यात्म का अर्थ

अध्यात्म का अर्थ है— राग-द्वेष-मुक्त चेतना। चेतना हमारे सामने है। इसमें किसी को कोई संदेह नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति वर्तमान की चेतना को स्वीकारता है। प्रश्न होता है— अतीत की चेतना थी या नहीं? भविष्य में होगी या नहीं? इन दोनों को एक बार छोड़ दें, किन्तु जो वर्तमान की चेतना है वह राग-द्वेष से मुक्त रहे, यह अध्यात्म है। अध्यात्म का अर्थ है— प्रियता और अप्रियता के संवेदन से हटकर समता का अनुभव करना। प्रत्येक घटना और प्रवृत्ति में समता का अनुभव जागे, प्रियता और अप्रियता का संवेदन बंद हो। सामान्यतः हमारे जीवन में ये दो ही बातें चलती हैं। हम या तो किसी घटना को प्रियता की दृष्टि से देखते हैं या किसी घटना को अप्रियता की दृष्टि से देखते हैं। हमारा पक्षपात सदा होता है। जो लोग बहुत निष्पक्षता और तटस्थता

की बात करते हैं, वे भी पक्षपात से ग्रस्त हैं। कोई भी पक्षपात से मुक्त नहीं है। मुक्त होगा भी कैसे? जब तक झुकाव है, आकर्षण है, विकर्षण है, प्रियता है, अप्रियता है, राग है, द्वेष है, तब तक कोई पक्षपात से मुक्त हो नहीं सकता। मात्रा का अन्तर हो सकता है। कोई व्यक्ति शत-प्रतिशत पक्षपात से ग्रस्त हो, तो कोई अस्सी प्रतिशत और कोई साठ प्रतिशत ग्रस्त हो सकता है लेकिन कोई सर्वथा पक्षपात से मुक्त हो नहीं सकता। इस स्थिति में हम निष्पक्षता की बात नहीं सोच सकते।

हमारा सारा व्यवहार झुकाव के आधार पर चलता है। अध्यात्म कहां से होगा? अध्यात्म की अनुभूति तब होगी, जब हम प्रयोग करें। एक दिन का प्रयोग करें। एक दिन में कुछ घटनाओं का प्रयोग करें। सारी घटनाओं के बारे में कहना कठिन है पर कुछ घटनाओं के बारे में कहा जा सकता है। कोई घटना घटी, उसमें प्रियता और अप्रियता की दृष्टि रही या समता की दृष्टि रही? उस घटना को प्रिय-अप्रिय संवेदन के आधार पर देखा या उनसे मुक्त होकर देखा? यह आध्यात्मिक दृष्टिकोण है, यह आध्यात्म की चेतना है। इसमें कहीं कोई सम्प्रदायवाद नहीं है।

व्यवहार में चलने वाला आदमी व्यवहार को ज्यादा मूल्य देता है इसलिए उसकी शिक्षा भी व्यवहार पर आधारित है। जब रोटी की पूरी व्यवस्था हो जाती है और बौद्धिक विकास की पूरी तैयारी हो जाती है तो फिर शिक्षा की संपूर्ति मान ली जाती है।

### शिक्षा के साथ जीवन विज्ञान क्यों ?

अध्यात्म के लोग उस शिक्षा को पूरा नहीं मानते, अपर्याप्त मानते हैं। इसका कारण क्या है? लोग जिसे पूरी शिक्षा मानते हैं, लोकोत्तर के व्यक्ति उसे अधूरी शिक्षा क्यों मानते हैं? क्या यह उनकी दृष्टि का भ्रम है या उसमें सचाई भी है? एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जीवन विज्ञान की शिक्षा को अध्यात्म की शिक्षा के साथ जोड़ने का अर्थ क्या है? प्रयोजन हमारे सामने स्पष्ट होना चाहिए। जीवन विज्ञान की अनिवार्यता को वर्तमान युग की अपेक्षाओं के संदर्भ में समझा जा सकता है।

समाज में सदा निःशस्त्रीकरण की अपेक्षा रहती है। जहां-तहां शस्त्रीकरण होता है वहां खतरे बढ़ते हैं, भय बढ़ता है। सारा भय शस्त्रों का है। यदि शस्त्र न हों तो दुनिया में कोई भय नहीं। भयभीत मनुष्य ने शस्त्र का आविष्कार

किया और शस्त्र ने मनुष्य को सदा भयभीत बनाए रखा, उसे भीरू बना दिया। आज का यह प्रबल स्वर है कि निःशस्त्रीकरण हो। अनेक राष्ट्रों ने मिलकर इस दिशा में प्रयत्न किया है। अनेक संधियां हुई हैं पर अभी काम पूरा हो नहीं सका, किन्तु इस सचाई को हम अस्वीकार नहीं करेंगे कि मनुष्य सदा निःशस्त्रीकरण चाहता है, शस्त्रीकरण नहीं चाहता, शस्त्रों को नहीं चाहता, डराने वाले साधनों को, हथियारों को नहीं चाहता। वह चाहता है कि कोई डराने वाला व्यक्ति भी न हो और डराने वाले साधन भी न हों। पूरा अभय का वातावरण हो। हर व्यक्ति भय मुक्त होना चाहता है, किन्तु शस्त्रों की दुनिया में कोई भय मुक्त नहीं होता।

### शस्त्र की नयी व्याख्या

प्रश्न है- वास्तव में शस्त्र क्या है? हमने व्यवहार के धरातल पर बन्दूक, तलवार, तोप, प्रक्षेपास्त्र आदि आधुनिक शस्त्रों को शस्त्र मान रखा है, किन्तु अध्यात्म की भाषा में शस्त्र दूसरा ही है। अध्यात्म की भाषा में शस्त्रों का वर्गीकरण मिलता है। स्थानांग सूत्र में दस प्रकार के शस्त्रों का वर्गीकरण किया गया है। उनमें नमक भी एक शस्त्र है, अग्नि एक शस्त्र है, जहर एक शस्त्र है। शस्त्र का मतलब है- मार डालने वाला। जो मार डालता है वह सब शस्त्र है। क्या दुनिया में कोई ऐसी चीज है जो आदमी को न मारे ? एक भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो आदमी को नहीं मारती। खोजने पर भी नहीं मिलेगी। मारे या न मारे यह दूसरी बात है पर न मार सके, ऐसी कोई भी चीज नहीं मिलेगी। एक चींटी भी आदमी को मार डालती है। एक छोटा-सा रज-कण आदमी को मार डालता है। एक वायरस, एक जर्म, एक कीटाणु आदमी को मार डालता है। बहुत बार तो जिन पदार्थों को हम अपनी रक्षा का साधन समझते हैं, वे साधन ही मार डालते हैं, आत्मघाती बन जाते हैं। कोई भी ऐसा नहीं, जो शस्त्र न हो। नमक भी शस्त्र है। नमक इतना तेज शस्त्र है कि वह सब कुछ गला देता है। कण-कण को गला देता है। बहुत नमक खाने वाले भी यह अनुभव करते हैं कि नमक कितना तेज शस्त्र है। ज्यादा नमक खाने वाले का B.P. बता देता है कि नमक कितना बड़ा शस्त्र है, मार डालने वाला शस्त्र है। चीनी भी शस्त्र है। वह मीठा जहर है। चिकनाई भी शस्त्र है। घी और तेल भी शस्त्र है। थोड़ी-सी हार्ट-ट्रबल होती है तो डॉक्टर कहता है- पहले चिकनाई बन्द करो। यदि अमृत हो तो बन्द किसलिए ? पुराने लोगों ने

घी को रत्न माना है। घी एक रत्न है, पर आज की भाषा दूसरी है-घी अनावश्यक है। यह निश्चित है कि घी भी शस्त्र बनता है, तेल भी शस्त्र है। पूरे चिकने पदार्थ शस्त्र बन जाते हैं।

यह सचाई है कि अकाल-मृत्यु में किसी तलवार, बन्दूक या तोप का हाथ नहीं होता, किन्तु नमक, चीनी, घी या ज्यादा गरिष्ठ मिठाइयों का हाथ होता है। आदमी सौ वर्ष जीना चाहता है या सौ वर्ष जीता है, यदि इनका प्रयोग खूब करेगा तो संभव है पचास वर्ष भी न जिए। वे शस्त्र तो हैं ही, मारते भी हैं पर मारते इतने मिठास के साथ कि पता ही नहीं चलता। मारने-मारने में भी अन्तर है। एक मारता है कड़वाहट के साथ और एक मारता है मिठास के साथ, मधुरता और प्रियता के साथ। प्रत्येक पदार्थ दुनिया में शस्त्र बना हुआ है, अशस्त्र कुछ भी नहीं है।

### शस्त्र : अध्यात्म की भाषा में

लोगों में शस्त्र की एक प्रकार की अवधारणा है। दूसरे प्रकार की एक गहरी अवधारणा है अध्यात्म की। हमारा शरीर, वाणी और मन-ये दुष्प्रयुक्त होते हैं तो शस्त्र हैं। दुष्प्रयुक्त मन एक शस्त्र है, दुष्प्रयुक्त वाणी एक शस्त्र है और दुष्प्रयुक्त शरीर एक शस्त्र है। दूसरा शस्त्र है-भाव। पूरा भाव-तंत्र एक शस्त्र है। तीसरी बात है अविरति। आकांक्षा एक शस्त्र है।

शस्त्र दो श्रेणियों में बंट जाते हैं-पदार्थ-शस्त्र और मनुष्य की अंतर् वृत्तियों का शस्त्र। शरीर भी शस्त्र है, वाणी और मन भी शस्त्र हैं। जितनी लड़ाइयां बंदूकों, तलवारों और तोपों से नहीं लड़ी जातीं, उतनी लड़ाइयां हमारे मन, वचन और शरीर से लड़ी जाती हैं। कौन व्यक्ति ऐसा होगा, जो दिन में एक-दो लड़ाई नहीं लड़ लेता हो? स्वयं लड़ लेते हैं और कई लोग तो लड़ाई को उधार भी पसंद करते हैं। जहां भी पता चले लड़ाई की संभावना है शायद तीसरे गांव भी वे पहुंचे जाते हैं।

कौन नहीं लड़ता? एक अंगुली का इशारा होता है, लड़ाई शुरू हो जाती है। जबान ऐसी निकलती है, लड़ाई शुरू हो जाती है। मन में चिंतन ऐसा आता है, लड़ाई शुरू हो जाती है। राग और द्वेष से भरा हुआ मन का चिंतन सबसे बड़ा शस्त्र है।

वाणी, शरीर और मन का दुष्प्रयोग सारी लड़ाइयों को पैदा करता है। क्या हम यह सोचते हैं कि जो महायुद्ध होते हैं, वे बहुत बड़े कारणों से होते

हैं। अगर ऐसा सोचते हैं तो सोचना भ्रांत होगा। आज तक के पूरे विश्व के इतिहास को उठाकर देखें, जितने महायुद्ध हुए हैं, जितनी बड़ी लड़ाइयां हुई हैं, वे बहुत छोटी बातों को लेकर हुई हैं। बड़ी बात इतनी साफ होती है कि उसको लेकर लड़ाई लड़ने की जरूरत नहीं पड़ती। बहुत छोटी-छोटी बातों को लेकर लड़ाइयां हुई हैं और इतिहास इसका साक्षी है- एक राजा दूसरे राजा को कोई एक अपशब्द कह देता, बस उसे सहन नहीं होता, तत्काल चढ़ाई हो जाती।

हमारे मन में इतने शस्त्र भरे पड़े हैं कि निःशस्त्रीकरण की बात सामने आती ही नहीं।

### शस्त्र है 'भाव'

'भाव' एक बहुत बड़ा शस्त्र है। लड़ाइयां भाव में ही पैदा होती हैं। भाव में से उतरकर मन में आती हैं, मन से वाणी में और फिर शरीर में आती है। सारे शस्त्रों का मूल केन्द्रीय-स्थान है- भाव। हमारा भाव संस्थान मन एवं विचारों को प्रभावित करता है, हमारी धारणाओं और मान्यताओं को प्रभावित करता है।

भाव में जितनी ताकत होती है उतनी ताकत शायद अणुबम में भी नहीं होती। एक बुरा भाव यदि अपनी शक्ति की सीमा को पार कर जाए तो न जाने कितने लोगों का अनिष्ट कर दे। हजारों, लाखों का ही नहीं, करोड़ों, अरबों का अनिष्ट कर सकता है। भाव बहुत बड़ा शस्त्र है इसलिए जैन आचार्यों ने एक नियम बनाया- किसी को साधना करनी है, अनिमेष ध्यान करना है तो हरियाली पर न किया जाए, यानी सचित्त वस्तु पर न किया जाए, सजीव वस्तु पर न किया जाए। सचित्त वस्तु पर त्राटक होता है, वह उन जीवों को कष्ट में डाल देता है। उनमें कठिनाई पैदा हो जाती है इसलिए न पानी पर, न फूलों पर, न वनस्पति पर- त्राटक न किया जाए। हमारे भाव में बहुत बड़ी ताकत होती है, भाव बहुत बड़ा शस्त्र है।

### अविरति

एक शस्त्र है 'अविरति'- आकांक्षा। आकांक्षा बहुत बड़ा शस्त्र है। जिस निःशस्त्रीकरण की जरूरत है, उसका प्रारम्भ इस शस्त्र के वर्जन से होना चाहिए। बहुत सारी घटनाएं सामने आती हैं- परिवारों की, भाइयों की, पिता-पुत्र की, पति-पत्नी की, सचमुच हैरानी होती है। एक ऐसी धारणा बन गई है कि

आकांक्षा, पैसा, धन इसके सिवाय दुनिया में कोई सम्बन्ध नहीं। इतनी आकांक्षा जागती है कि सारे सम्बन्ध गौण हो जाते हैं।

ऐसी घटनाएं घटित होती हैं अविरति के कारण। एक ओर पदार्थ के शस्त्र, दूसरी ओर हमारे भावात्मक शस्त्र। एक है मन, वचन और काया का दुष्प्रयोग, दूसरा है भाव और तीसरा है अविरति- आकांक्षा। ये तीन शस्त्र हैं। गणित की भाषा में सोचें तो पहला स्थान बंदूक, तोप और गोली का नहीं है। पहला स्थान है- भाव का, मन-वचन और काया के दुष्प्रयोग का और आकांक्षा का। यह होता है जब पदार्थ के शस्त्र बनते हैं या पदार्थ ही शस्त्र बन जाता है।

दुनिया में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं, जो शस्त्र न बन सके किन्तु वे पदार्थ शस्त्र तब बनते हैं, जब भीतर में हमारे प्रथम श्रेणी के शस्त्र सक्रिय होते हैं। जब तक प्रथम श्रेणी के शस्त्र सक्रिय नहीं होते, तब तक द्वितीय श्रेणी के शस्त्र सक्रिय हो नहीं सकते।

जीवन-विज्ञान की शिक्षा इसलिए जरूरी है कि हम प्रथम श्रेणी के शस्त्रों का निःशस्त्रीकरण कर सकें। राजनेताओं की, राजनीति के मंच पर होने वाली निःशस्त्रीकरण की चर्चा कभी पूरी नहीं होती और इसलिए नहीं होती कि वे द्वितीय श्रेणी का काम करना चाहते हैं। जो बाद में करने का काम है, वह पहले करना चाहते हैं। पहले करने का काम नहीं करना चाहते। जब तक पहले करने का काम नहीं किया जाता, तब तक बाद में करने का काम पूरा नहीं होता।

## शांतिपूर्ण जीवन के लिए जीवन-विज्ञान

हमारी पूरी शिक्षा की व्यवस्था में उन प्रथम श्रेणी के शस्त्रों को मृदु बनाने की, उनके जहर को समाप्त करने की कोई व्यवस्था नहीं है इसलिए अध्यात्म शिक्षा की जरूरत होती है, जिससे कि हम प्रथम श्रेणी के शस्त्रों को समाप्त कर सकें, निःशस्त्रीकरण कर सकें, वह नहीं होता है तब तक शस्त्र रखने वाला भी दुःख पाता है। आदमी किसी को पीट देता है। हाथ उठ जाता है, मन में अनुताप होता है कि काम अच्छा नहीं किया। मैंने पीट दिया। हाथ का संयम नहीं रह सका। मन में बुरी कल्पना आती है, बुरा चिन्तन चलता है। मन में दुःख भी होता है कि मैंने इतनी बुरी बात क्यों सोची? शस्त्र का प्रयोग करने वाला, स्वयं दुःखी होता है और जिस पर शस्त्र का प्रयोग किया जाता

है, वह भी दुःखी होता है। बुरा सोचने वाला भी दुःख पाता है क्योंकि वह बुरे परमाणुओं से घिर जाता है। जिसके बारे में सोचते हैं, वह भी प्रभावित होता है। हम इन प्रथम श्रेणी के शस्त्रों को समाप्त करना चाहते हैं तो अध्यात्म- शिक्षा के बिना, जीवन विज्ञान के बिना हमारे सामने कोई भी दूसरा रास्ता नहीं है। हम बहुत बार भ्रांतियों में पलते हैं बाहरी निमित्तों को मिटाना चाहते हैं, बाहरी उपकरणों को समाप्त करना चाहते हैं वे बुरे तब बनते हैं जब उन्हें हमारा योग मिलता है। हम उन्हें चार्ज करते हैं, तब वे चार्ज होते हैं अपने आप में वे नेगेटिव हैं। उनमें कोई कर्तृत्व नहीं है, कर्तृत्व हमारे द्वारा आरोपित होता है। यदि शस्त्र में भी कोई क्षमता होती तो आज शस्त्रों का इतना बड़ा भण्डार होता कि दुनिया एक क्षण के लिये चैन से नहीं बैठ सकती। पर वे द्वितीय श्रेणी के शस्त्र- अणु- अस्त्र, हाइड्रोजन अस्त्र, उनका भण्डार अभी निष्क्रिय पड़ा है और इसलिए पड़ा है कि प्रथम श्रेणी के शस्त्र पूरे टकराए नहीं। जिस दिन उनमें थोड़ा पागलपन आया और वह प्रथम श्रेणी का शस्त्र जैसे ही टकराया, फिर पता नहीं दुनिया में क्या होगा? कोई भविष्यवाणी नहीं कर सकता। शायद भविष्यवाणी करने वाले भी मिलेंगे या नहीं। यह नहीं कहा जा सकता।

हम इस बात का अनुभव करें कि दुष्प्रयुक्त मन, दुष्प्रयुक्त वाणी और दुष्प्रयुक्त शरीर- इन तीन शस्त्रों को समाप्त किए बिना परिवार में भी सुख से नहीं रह सकते, समाज और राष्ट्र में भी सुख से नहीं रह सकते। सुखी या शांतिपूर्ण जीवन जीने के लिए जरूरी है जीवन विज्ञान की शिक्षा। उसके द्वारा वह शिक्षा पा सकते हैं, जिससे हमारा भाव-शस्त्र प्रथम श्रेणी का शस्त्र निष्क्रिय बने और हम मैत्री, शांति और सुख का जीवन जी सकें।

### मुक्ता खो गई

आदमी झुका हुआ चल रहा है। केवल भारत में नहीं, पूरे विश्व में आदमी झुका-झुका चल रहा है। कुछ खोज रहा है। उसे यदि पूछा जाए- 'झुके हुए क्यों चल रहे हो? तुमने क्या खो दिया?' उत्तर मिलेगा- 'अनुशासन की मुक्ता खो गई है। दूढ़ रहा हूँ, कहीं मिल जाए।'

आज सारे संसार में समस्या है- अनुशासन की। शिक्षा का उद्देश्य है- अनुशासन पैदा करना। अनुशासन पैदा नहीं हो रहा है। हर जगह मांग है, पुकार है कि अनुशासन आए, अनुशासन जागे। पर वह नहीं आ रहा है, जाग नहीं रहा है।



## उदासीनता अनुशासन के प्रति

अनुशासन का मूल है- आत्मानुशासन।

अध्यात्म-शिक्षा का उद्देश्य है- आत्मानुशासन पैदा करना। इस विषय में अध्यात्म के आचार्यों ने अनेक महत्त्वपूर्ण खोजें की हैं। स्वावलम्बन और स्व-निर्भरता- ये दो आत्मानुशासन के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। जो व्यक्ति स्वावलम्बी नहीं होता, स्व-निर्भर नहीं होता, वह आत्मानुशासी नहीं हो सकता। जो आत्मानुशासी होगा, वही स्वावलम्बी और स्व-निर्भर होगा। धर्म के आचार्यों ने इस विषय में जो तथ्य प्रस्तुत किए थे, वे भुला दिए गए और सब काम माता-पिता सह लेते हैं, पर आत्मानुशासन की दिशा में लड़का या लड़की प्रस्थान करता है तो वे वर्जना करेंगे, यह मत करो।

मनुष्य चाहता ही नहीं है कि आत्मानुशासन आए। वह चाहता है कि सब उसके जैसे होकर रहें, कोई किसी दूसरी पंक्ति में या आगे जाकर न बैठ जाए। आगे बढ़ने के लिए सहारा या सहयोग देने वाला खोजने पर भी नहीं मिलेगा और पीछे सरकाने वाले बिना प्रयत्न ही सर्वत्र उपलब्ध हो जाते हैं। उन्हें अच्छा नहीं लगता यह आत्मानुशासन का पथ।

## स्व-निर्भरता की आस्था

एक राजकुमार दीक्षित हो रहा था। माता-पिता ने कहा- कुमार! तुम बड़े सुकुमार हो, बहुत कोमल हो। तुम दीक्षित हो रहे हो। तुम्हें ज्ञान नहीं है, शरीर में बहुत बीमारी पैदा हो जाएगी तो चिकित्सा नहीं करा सकोगे। अचिकित्स्य है यह संयम का मार्ग। बीमारी पैदा होने पर क्या करोगे? कौन आहार पानी लाकर देगा? कौन तुम्हें दवा देगा? भूखे-प्यासे और रुग्ण होकर बैठे रहोगे। क्या प्राप्त होगा?’

राजकुमार बोला-‘माता-पिता! जंगल में रहने वाले पशु बीमार हो जाते हैं। कौन उनकी परिचर्या करता है? कौन उन्हें भोजन-पानी लाकर देता है? रुग्ण पड़े रहते हैं। जब स्वस्थ होते हैं तब जंगल में जाकर खा-पी लेते हैं। जब ये पशु भी ऐसा कर सकते हैं तो मैं मनुष्य हूँ, ऐसा क्यों नहीं कर सकूँगा?’

यह एक महत्त्वपूर्ण खोज थी स्वावलम्बन और स्व-निर्भरता की। रोग की स्थिति में भी दूसरे का सहारा न लिया जाए। यदि रोग का प्रतिकार करना हो तो बाहरी वस्तु से न किया जाए।

अमेरिका में एक संस्थान ऐसा है, जिसके सदस्य दवा का प्रयोग नहीं करते। वे कोई दवा नहीं लेते। ऑपरेशन की आवश्यकता होने पर भी ऑपरेशन नहीं कराते। सदस्य थोड़े हैं, पर जो हैं, वे कट्टरता से इसका पालन करते हैं। वे सब कुछ ईश्वर पर छोड़ देते हैं।

### अपने से अपनी चिकित्सा का सिद्धांत

‘तेगिच्छं नाभिनंदेज्जा’ जैन मुनि चिकित्सा की इच्छा न करे। यह बहुत प्राचीन सिद्धांत है। जैन आगमों में यह उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलता है। यह कैसे सम्भव हो सकता है कि बीमारी हो और चिकित्सा न हो? चिकित्सा हो सकती है पर वह बाहरी वस्तु से न हो, यह इस सूत्र का हार्द है। स्वावलम्बन और स्व-निर्भर होकर अपनी वस्तु से चिकित्सा करो, बाह्य वस्तु से चिकित्सा मत करो, पर वस्तु से चिकित्सा मत करो।

शरीर में रोग पैदा होता है तो शरीर में निरोगता की भी पूरी व्यवस्था है। आसनों का विकास हुआ था चिकित्सा के लिए। बाहरी वस्तुओं की अपेक्षा नहीं है। आसनों का प्रयोग करो, चिकित्सा हो जाएगी। श्वास और विभिन्न मुद्राओं का प्रयोग रोग-निवारण की दिशा में हुआ था। इसमें नाड़ी-विज्ञान का पूरा उपयोग किया गया था।

पाचन कमजोर है, भोजन के बाद वज्रासन में बैठो, पाचन की दुर्बलता मिट जाएगी।

पाचन की गड़बड़ है। भोजन के बाद दाएं नथुने से पन्द्रह मिनट तक श्वास लो, पाचन स्वस्थ होने लगेगा।

पाचन दुर्बल है। महामुद्रा का प्रयोग करो, पाचन ठीक होने लगेगा।

प्रत्येक समस्या के समाधान के लिए आसन और नाड़ियों का प्रयोग तथा स्वर का प्रयोग खोजा गया था। हजारों आसनों का प्रयोग होने लगा। शारीरिक बीमारी हो तो आसनों का प्रयोग किया जा सकता है, और मानसिक बीमारी के लिए भी आसनों का प्रयोग किया जा सकता है।

### आत्मानुशासन का विज्ञान

ये सारे तथ्य स्वावलम्बन और आत्मनुशासन के लिए खोजे गए थे। आत्मानुशासन का अर्थ इतना ही नहीं है कि अपने पर अनुशासन करो, हाथ मत हिलाओ, पैर मत हिलाओ। आत्मानुशासन का अर्थ है- शरीर में कोई गड़बड़ी है, उसका प्रतिकार बाह्य वस्तु से नहीं, भीतर की व्यवस्था से करो,

यह होगा आत्मानुशासन। नाड़ियों के विषय में अनेक खोजें हुई थीं। पूरे शरीर में इतने केन्द्र हैं, इतनी नाड़ियाँ हैं, उन सबका विज्ञान है। अमुक नाड़ी को दबाने से अमुक बीमारी शांत होती है और अमुक नाड़ी दबाने से अमुक रोग शांत होता है। यह पूरा विज्ञान अनेक लोगों को ज्ञात था। भयंकर सिर दर्द है, कोहनी के ऊपर की नाड़ी को दबाओ, वह शांत हो जाएगा। पेट में दर्द है, रीढ़ की हड्डी को ऊपर से नीचे, पांच बार दबाते जाओ, पेट का दर्द देखते-देखते ठीक हो जाएगा।

हमारे पैर के अंगूठों, एड़ी, पसलियों, घुटनों और रीढ़ की हड्डी में अनेक स्नायु हैं, नाड़ियाँ हैं, जिनका उपयोग कर पूरी चिकित्सा की जा सकती है। यह सारा विज्ञान आज भुला दिया गया। यह विज्ञान दस-बीस प्रतिशत कहीं-कहीं बचा है, शेष विस्मृति के गर्त में पड़ गया है।

आत्मानुशासन कैसे होगा, जब शरीर का अनुशासन नहीं है, मन का अनुशासन नहीं है, वाणी का अनुशासन नहीं है?

### शरीर और मन : पारस्परिक प्रभाव

शरीर में अनुशासन की व्यवस्था है। उसके मूल घटक हैं- रक्त का संचार, मांस का निर्माण, अस्थि का निर्माण और उसकी मजबूती। यदि हमारे शरीर में रक्त का संचार उचित ढंग से नहीं हो रहा है तो क्या शरीर का अनुशासन होगा? क्या आत्मानुशासन होगा? यदि शरीर में दूषित रक्त प्रवाहित हो तो वह रक्त मन को दूषित करेगा, मस्तिष्क में भी विकृति पैदा करेगा। यह सम्भव नहीं है कि उस व्यक्ति पर अनुशासन का कभी प्रभाव हो। जिसके शरीर की धातुएं स्वस्थ नहीं हैं, अपना कार्य सुचारू रूप से नहीं कर रही हैं, आतें मलोत्सर्ग ठीक नहीं कर रही हैं, पक्वाशय ठीक पाचन नहीं कर रहा है, लीवर अपना अभिरंजक पित्त नहीं छोड़ रहा है, पेन्क्रियाज अपना काम नहीं कर रही है, फेफड़े और हृदय अपना काम नहीं कर रहे हैं तो हम कल्पना करें कि अनुशासन आएगा? अनुशासन आ नहीं सकता। उस व्यक्ति के मन में विकृतियाँ ही पैदा होंगी। आत्मानुशासन की सबसे पहली बात या नींव की ईंट है रक्त का ठीक संचार, शरीर की धातुओं का ठीक से कार्य करना। वह व्यवस्थित चलता है तो मन का अनुशासन हो सकता है। शरीर और मन परस्पर जुड़े हुए हैं। दोनों एक दूसरे को इतना प्रभावित करते हैं कि मन की स्वस्थता के लिए शरीर की स्वस्थता जरूरी है और शरीर की स्वस्थता के

लिए मन की स्वस्थता जरूरी है। पर दोनों में मूल है- शरीर की स्वस्थता, शरीर की सारी क्रियाओं का सम्यक् संचालन। यदि शरीर की सारी क्रियाओं का सम्यक् संचालन होता है तो अनुशासन विकसित होता है, यदि वैसा नहीं है तो अनुशासन की गड़बड़ी प्रारंभ हो जाएगी। हम पत्ते और फूल के अनुशासन को लाना चाहते हैं और 'जड़' (मूल) के अनुशासन को विस्मृत कर देते हैं। अनुशासन कभी नहीं आएगा।

### महत्त्वपूर्ण खोजें मन को साधने की

आत्मानुशासन आएगा शरीर के अनुशासन से, मन के अनुशासन से। मानसिक अनुशासन के लिए अध्यात्म के आचार्यों ने सैकड़ों-सैकड़ों पद्धतियां खोजी थीं। वे बहुत महत्त्वपूर्ण थीं। सबसे कठिन काम होता है इन विकल्पों के जाल को रोकना। इतनी कल्पनाएं आती हैं, जिनका कहीं अन्त नहीं है। वे हैं असीम और अनन्त। आदमी नहीं चाहता कि कल्पनाएं आएँ। वह शांत रहना चाहता है, पर ज्ञान के तन्तु ढीले हो जाते हैं, मस्तिष्क के तन्तु ढीले हो जाते हैं तब आदमी रोक नहीं पाता। वह अपने पर नियन्त्रण या अनुशासन नहीं कर पाता। व्यर्थ की कल्पनाएं आती हैं, जिनका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। जिनके कार्यक्रम से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं, वे सारी कल्पनाएं आती रहती हैं। उन कल्पनाओं को रोकने का अध्यात्म के सिवाय और कोई उपाय नहीं है। चिकित्सा के क्षेत्र में डाक्टरों के पास एक उपाय है, कुछ गोलियां दे देना, ट्रेक्विलाइजर का प्रयोग कर देना या नींद की गोलियां देकर सुला देना। यह कोई उपाय नहीं है। वे गोलियां शरीर के लिए हानिकारक होती हैं, हानि पहुंचाती हैं, और अधिक मानसिक अस्त-व्यस्तता पैदा कर देती हैं। अध्यात्म ने विचार-शून्यता के लिए निर्विकल्पता के लिए एक महत्त्वपूर्ण उपाय खोजा था, वह था जीभ को स्थिर करना, यानी स्वरयंत्र को स्थिर करना। योग के अनुभवी आदमी से पूछा जाए कि विकल्प बहुत आते हैं, क्या करूं? वह कहेगा- खेचरी मुद्रा करो, जीभ को उलट कर तालू की ओर ले जाओ, जीभ को अधर में रखो। जीभ न ऊपर छुए, न दाएं-बाएं छुए। जीभ को अधर में रखो और हिलने मत दो। जीभ को स्थिर कर लो। वह बताएगा कि जीभ को दांतों की जड़ दबा दो, जिससे वह हिले-डुले नहीं और सबसे अनुभवी होगा तो वह बताएगा कि स्वरयंत्र का कायोत्सर्ग कर लो, स्वरयंत्र को ढीला छोड़ दो। जिसने स्वरयंत्र को ढीला करना सीख लिया उसने मानसिक विकल्पों पर

अनुशासन पा लिया। स्वरयंत्र ढीला है तो विकल्प आएगा कहां से? विकल्प आता है भाषा से। भाषा चाहे बोली जाने वाली भाषा हो या भीतर की भाषा हो। बाहर वचन न भी आए पर भीतर में तो हमारी भाषा चलती रहती है। जब-जब आदमी सोचता है तब-तब उसका फोटो लिया जाए, उसका परीक्षण किया जाए तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि एक ओर दिमाग में चिन्तन चल रहा है तो दूसरी ओर स्वरयंत्र का कंपन हो रहा है। स्वरयंत्र कंपित होगा चिंतन के साथ-साथ। जैसे ही हमारा चिंतन बंद हुआ, स्वरयंत्र का कंपन बन्द हो जाएगा या हमने स्वरयंत्र के कम्पन को बन्द किया तो हमारा चिंतन बंद हो जाएगा। विकल्प और स्वरयंत्र का कायोत्सर्ग या शिथिलीकरण- ये दोनों साथ में काम करते हैं। कितना महत्वपूर्ण उपाय खोजा गया था इसीलिए जब विकल्प ज्यादा आने लगते हैं तो उपाय बताया जाता है कि 'जालंधर बन्द' करो, यानी टुड्डी को कण्ठकूप में लगाओ, कसकर लगाओ, दबा दो। विकल्प अपने आप बन्द हो जाएंगे।

शरीर, भाषा और मन- इन तीनों में गहरा सम्बन्ध है। जब तक इन सम्बन्धों का अध्ययन नहीं किया जाता, इनके प्रभावों का अध्ययन नहीं किया जाता, तब तक अध्यात्म के तत्त्व को समझा नहीं जा सकता।

### विपरीत अभिनिवेश

अध्यात्म के क्षेत्र में आज भी अनेक साधन हमें उपलब्ध हैं। यदि उन साधनों का सम्यक् प्रयोग किया जाए, उनका उपयोग किया जाए तो आत्मानुशासन की उज्वल संभावनाएं हमारे सामने प्रस्तुत हो सकती हैं। पर आदमी तो बहुत उलटे चलते हैं। चाहते हैं अनुशासन पर आत्मानुशासन की जड़ को खोदने में लग जाते हैं। अनुशासन चाहने वाले लोग सबसे पहली बात यही मानते हैं कि धर्म की जीवन में कोई आवश्यकता नहीं। काम करो, उत्पादक श्रम करो, कोई चीज बनाओ, कुछ तैयार करो, पैदा करो। यह व्यर्थ का धंधा है धर्म में चले जाना। यह उन आलसी और निठल्ले लोगों का या सत्रहवीं शताब्दी में जीने वाले लोगों का धंधा है। आज का प्रबुद्ध आदमी सक्रिय आदमी, आज के वैज्ञानिक युग में भौतिक प्रगति करने वाला आदमी, अमेरिका और जापान बनने का स्वप्न लेने वाला राष्ट्र अगर इन निकम्मे धर्म के धंधों में फंस जाएगा तो प्रगति की होड़ में पीछे रह जाएगा, वह गए-गुजरे जमाने का आदमी बन जाएगा, राष्ट्र बन जाएगा। हम तो मूल में प्रहार करना चाहते हैं आत्मानुशासन

पर। जब कभी कोई प्रसंग आता है प्रबुद्ध लोगों का तो वे सबसे पहले ज्यादा से ज्यादा प्रहार करते हैं तो धर्म पर करते हैं। अनुशासन की मांग और आत्मानुशासन पर प्रहार! अगर आत्मानुशासन का विकास हो जाए तो फिर परानुशासन की पकड़ भी कम हो जाए। लोग नहीं चाहते कि ऐसा हो। इसलिए वे धर्म को, अध्यात्म को या आत्मानुशासन को बहुत मूल्य नहीं देते, किन्तु परिस्थितियों का चक्र इस प्रकार घूमा है कि हजार उपाय कर लेने पर भी जब अनुशासन की समस्या हल नहीं हो रही है तो आज फिर इस दुनिया में अध्यात्म का स्वर उभरता जा रहा है। आज सारे संसार में योग की मांग है।

### विवशता आत्मानुशासन की ओर लौटने की

प्रश्न होता है-आसन क्यों ? इतनी दवाइयां, इतने साधन, इतने हॉस्पिटल, इतने स्पेशलिस्ट फिर आसन की जरूरत क्यों ? दवाइयां देने वाले डॉक्टर भी सुझाते हैं कि दवाई से स्थायी लाभ नहीं होगा, तुम आसन का प्रयोग करो, योगा करो। घुटने में दर्द है; हड्डी टूट गई है। डॉक्टर कहते हैं-अब दवा का काम तो हो गया, पट्टे का काम तो हो गया, अब योगा करो। आजकल हर हॉस्पिटल के साथ योगा जुड़ गया।

क्या यह फिर आत्मानुशासन की ओर लौटने का कदम नहीं है ? आज चिकित्सक आत्मानुशासन की ओर लौट रहे हैं, दीर्घश्वास का प्रयोग करो। फेफड़ा कमजोर है, दमा है, डॉक्टर दवा देते हैं, साथ में यह कहते हैं कि दवा से एक बार लाभ हो जाएगा, स्थायी लाभ चाहते हो तो प्राणायाम करो।

किसी आदमी के मानसिक विकृति है । मानसिक चिकित्सक चिकित्सा करता है, साथ में कहता है ध्यान का अभ्यास करो। ध्यान सीखो । हृदय की बीमारी, हाई ब्लड प्रेशर या शुगर की बीमारी है, डॉक्टर कहते हैं कि चीनी मत खाओ, मिर्च-मसाले मत खाओ, इन सब चीजों को छोड़ो । वी० पी० बहुत ऊंचा है अतः तली हुई चीजों को मत खाओ । चिकनी चीजें मत खाओ । ज्यादा प्रोटीन मत खाओ, ज्यादा दूध भी नहीं-सारी वर्जनाएं । अरे! चले भोग के लिए, त्याग की बात करने लग गए! आत्मानुशासन की दिशा में अब नया प्रस्थान हो रहा है और लग रहा है कि चिकित्सा के क्षेत्र में इतने आविष्कार, अनुसंधान और दवाइयों के हो जाने पर भी डॉक्टर लोग अब ज्यादा उन बातों को सुझाने लग गए हैं, जो आत्मानुशासन के तत्त्व थे । नहीं तो उनका मेल

क्या ? एक साधु तो कहता है कि इन चीजों को मत खाओ, छोड़ दो, कम खाओ, बार-बार मत खाओ, आसन करो, प्राणायाम करो, पर डॉक्टर का इनसे क्या वास्ता ? पर आज ऐसा लगता है कि साधुओं का बहुत सारा काम डॉक्टर ही करने लग गए हैं।

### प्रभाव ही प्रभाव

इस दुनिया में फिर से आत्मानुशासन के लिए नया प्रस्थान शुरू हुआ है। इस प्रस्थान में प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य होता है कि वह जागरूक बने, जागे। आत्मानुशासन के प्रति जागे। प्रभावित न हो। हमें प्रभावित करने वाली बहुत बातें हैं और व्यक्ति बहुत प्रभावित होता है, हर घटना से प्रभावित होता है। यह अस्वाभाविक भी नहीं है, क्योंकि हमारा संबंध सबके साथ जुड़ा हुआ है। परिवार से संबंध होना बहुत स्थूल बात है। गहरे में जाकर देखें तो एक व्यक्ति को परिवार उतना प्रभावित नहीं करता जितना प्रभावित करता है सौरमंडल। बहुत प्रभावित होता है व्यक्ति सौरमंडल से।

हमारी विराट् दुनिया! हम जिस पृथ्वी में रह रहे हैं, ऐसी पृथ्वी की बात छोड़ दें। हमारे पूरे सौरमंडल, हमारी पूरी नीहारिका जिसमें खरबों तारे हैं, ऐसी खरबों सौरमंडल की स्थितियां इस ब्रह्माण्ड में हैं। खरबों-खरबों सौरमंडल और प्रत्येक सौरमंडल में ऐसी नीहारिकाएं जिनमें खरबों-खरबों तारे, ऐसे तारे जो सूर्य से भी बड़े तेजस्वी और ताप देने वाले। इतनी बड़ी दुनिया में हम जीते हैं। कवच बनाकर नहीं जी सकते। हम प्रभावित होते हैं। चारों तरफ से प्रभाव आ रहे हैं। उन सारे प्रभावों से बचने का कोई उपाय यदि है तो वह है-भीतर से निकलने वाली रश्मियां। हमारे भीतर की अग्नि, हमारे भीतर का तेज, उसमें से जो रश्मियां निकलती हैं, वे रश्मियां ही हमें प्रभावों से बचा सकती हैं। अन्यथा उन प्रभावों से बचने का कोई उपाय नहीं है। प्रभाव से नहीं बच सकते तो आत्मानुशासन भी नहीं हो सकता। आत्मानुशासन का मतलब होता है बाहरी प्रभावों से बचना। आदमी कितना प्रभावित होता है! हर कोई प्रभावित कर देता है। एक छोटा बच्चा भी प्रभावित कर देता है और एक बूढ़ा आदमी भी प्रभावित कर देता है। एक शब्द प्रभावित कर देता है और एक इशारा प्रभावित कर देता है। हम तो सारे प्रभावों के संक्रमणों के बीच में जी रहे हैं।

शिक्षा का महत्वपूर्ण उद्देश्य है-आत्मानुशासन का विकास और यह कार्य जीवन-विज्ञान की शिक्षा के द्वारा ही संभव हो सकता है। जीवन विज्ञान को

छोड़कर विद्या की जितनी शाखाएँ हैं, उनके द्वारा यह कार्य संभव नहीं हो सकता। उनका प्रयोजन दूसरा है और उनकी निष्पत्ति दूसरी है। अपने आपको, अपने शरीर और वाणी को, अपने मन और बुद्धि को, इन सबसे परे अदृष्ट जगत् में काम करने वाले भावतंत्र को यदि प्रभावित किया जा सकता है तो वह केवल अध्यात्म के द्वारा ही किया जा सकता है।

ध्यान करने वाला व्यक्ति अपने श्वास को, अपने प्रकम्पनों और अपनी विद्युत् को देखता है, अपने रसायनों तथा अपने में होने वाले रासायनिक परिवर्तन को देखता है। यह दर्शन अनुशासन की नींव को मजबूत करता है, शक्तिशाली बनाता है।

इस सारी प्रक्रिया से गुजरने वाले में यह विश्वास होना चाहिए-

- ★ आत्मानुशासन तब पैदा होगा जब प्राणशक्ति का संतुलन होगा।
- ★ आत्मानुशासन तब पैदा होगा जब प्रियता और अप्रियता से मुक्त क्षण में जीने का अभ्यास होगा।
- ★ आत्मानुशासन तब पैदा होगा जब शरीरबल, मनोबल, विचारबल और बुद्धिबल में संतुलन स्थापित होगा।

इस प्रक्रिया के बिना आत्मानुशासन नहीं होगा और आत्मानुशासन के बिना वह अनुशासन, जो चाहा जा रहा है, नहीं आएगा। यह निश्चित मानकर उपयुक्त दिशा में हमारा प्रस्थान होना चाहिए। इस प्रस्थान का अर्थ है-जीवन विज्ञान की अनिवार्यता की स्वीकृति।

### अभ्यास

१. अध्यात्म की भाषा में शस्त्र की व्याख्या कीजिए।
२. क्या आकांक्षा भी शस्त्र है? वह शस्त्र क्यों है, समझाइए?
३. जैन मुनियों के लिए अचिकित्सा का सिद्धान्त क्यों बताया गया?
४. भाषा और मन के संबंध को स्पष्ट करें।



## स्वतन्त्र व्यक्तित्व का निर्माण

बच्चा जन्म लेता है तब शिक्षित नहीं होता। जैसे-जैसे दिन बीतते हैं, वह शिक्षित होना शुरू हो जाता है। एक नवजात शिशु प्रकृति को नहीं जानता, वर्णमाला को नहीं जानता, बाह्य जगत् को नहीं जानता। दिन बीतने के साथ-साथ वह उन सबसे परिचित होता चला जाता है।

बच्चा वर्तमान में जीता है। न उसके सामने अतीत की स्मृति होती है और न भविष्य की कल्पना। अविकसित ज्ञान और वर्तमान में जीना। वह जैसे-जैसे सामाजिक संपर्कों में आता है, अतीत भी बनता है, स्मृतियाँ भी बनती जाती हैं और कल्पनाओं का निर्माण भी होता जाता है। बच्चा सीखता है वातावरण से, परिस्थिति से, सम्पर्क से और अध्यापक से। शिक्षा का उद्देश्य है-व्यक्तित्व का निर्माण, जो जन्मा है, उसका व्यक्तित्व विकसित हो।

लौकिक शिक्षा का उद्देश्य है- व्यक्तित्व का निर्माण। व्यक्तित्व का निर्माण एक बात है और स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण दूसरी बात है।

### विवेक चेतना : स्वतंत्र व्यक्तित्व की पहचान

मनुष्य के भीतर इच्छाएं होती हैं, रुचियाँ होती हैं। इन्द्रियाँ मांग करती हैं। मांग पैदा होती है। बिना मांग के कोई काम होता नहीं। दुनिया की यह प्रकृति है कि मांग के बिना कुछ भी नहीं होता। मांग होती है तो कोई कार्य होता है। भूख की मांग है तो रोटी खाई जाती है। अगर मांग न हो तो कोई भी आदमी नहीं खाएगा। मांग के बाद सब कार्य होते हैं। रुचि की मांग और इच्छा की मांग-ये दो बहुत बड़ी मांगें हैं। इच्छा की तरंग पैदा होती है, आदमी काम में प्रवृत्त होता है। रुचि की मांग पैदा होती है, आदमी काम में लगता है इच्छा पैदा हुई, रुचि पैदा हुई और आदमी काम में लग जाए, वह व्यक्तित्व स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं होता। इच्छा और रुचि की मांग को सदा स्वीकार करने वाला व्यक्तित्व स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं हो सकता। स्वतन्त्र व्यक्तित्व वह होता है जो इन्द्रियों की मांग और इच्छा की मांग को भी अस्वीकार कर सके, यह विवेक कर सके, निर्णय कर सके-यह मांग स्वीकार्य है या नहीं। यदि यह मांग स्वीकार करने जैसी नहीं है तो ठुकरा दिया जाना चाहिए।

यदि मांग में कोई औचित्य है तो उसे स्वीकार भी कर लेना चाहिए। यह विवेक की शक्ति, यह अस्वीकार की शक्ति स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण है। यह लौकिक शिक्षा के द्वारा संभव नहीं। शिक्षा का जो आदर्शवादी दृष्टिकोण है, उसके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए-स्वतन्त्र व्यक्तित्व का निर्माण किन्तु वह आदर्शवादी दृष्टिकोण व्यावहारिक कितना बनता है, इसका दायित्व कोई नहीं लेता।

### प्राणशक्ति का विकास : एक महत्वपूर्ण खोज

एक उपदेश है- अस्वीकार करो, इंद्रियों की मांग को अस्वीकार करो, रुचि और इच्छा की मांग को अस्वीकार करो। विद्यार्थी को इतना बतला देना ही पर्याप्त नहीं होता कि तुम शिक्षा पाते हो, इसलिए तुम इच्छा की मांग को अस्वीकार कर दो। क्या वाचिक शिक्षा या उपदेश मात्र से यह संभव बन जाएगा कि वह अस्वीकार कर सके? अस्वीकार की शक्ति जागे बिना अस्वीकार हो नहीं सकता। सिद्धांत अच्छा है। हम सिद्धांत को जान लेते हैं; किन्तु सिद्धांत की क्रियान्विति शक्ति के बिना नहीं हो सकती। सबसे पहली बात है शक्ति। जरूरी है शक्ति की पूजा- शक्ति की आराधना। यह शक्ति की आराधना कोई बाहरी तत्त्व की आराधना नहीं है। अपने भीतर में सोई हुई शक्ति की पूजा करना और सोई हुई शक्ति की आराधना करना शक्ति का जागरण है। प्रत्येक व्यक्ति में शक्ति सोई हुई है। उस शक्ति को जगाना है। सबसे बड़ी बात वह नहीं, जो प्रेरित कर सके, बड़ी बात है जो जगा सके। लौकिक शिक्षा के पास शक्ति को जगाने का साधन है- मात्र बुद्धि को प्रेरित करना; विचार दे देना। विचार से शक्ति का जागरण कहीं होता होगा, सौ में एक व्यक्ति का हुआ होगा, किन्तु विचार शक्ति- जागरण का बहुत बड़ा साधन नहीं है। शक्ति के जागरण का साधन है- अनुभव। अनुभव जग जाता है तो शक्ति जाग जाती है। अध्यात्म के आचार्यों ने जो सबसे महत्वपूर्ण बात कही, वह है प्राण-शक्ति का विकास। प्राण शक्ति का विकास होता है तो इच्छा शक्ति संकल्पशक्ति और एकाग्रता की शक्ति, सारी शक्तियां जाग जाती हैं। जब तक प्राणशक्ति का विकास नहीं होता, कोई शक्ति नहीं जागती।

### प्राणशक्ति और श्वास

आज बहुत बड़ी कठिनाई है प्राणशक्ति को जगाने की। एक कठिनाई है प्राकृतिक वातावरण की। इतना दूषित हो गया है हमारा प्राकृतिक वातावरण, इतने जहरीले तत्त्व उसमें मिल गये हैं, मनुष्य को इतना कम ऑक्सीजन मिलता है, इतनी कम प्राणवायु मिलती है, इतने कम प्राण-तत्त्व मिलते हैं कि प्राण-शक्ति को

जगाना बहुत कठिन हो गया है। दूसरी बात है प्राण-शक्ति को चाहिए पूरा श्वास। हम नाक से श्वास लेते हैं, वह भी पूरा नहीं लेते। बहुत छोटा श्वास लेते हैं। पूरा प्राण का तत्त्व जाता ही नहीं है। जब तक श्वास दीर्घ नहीं होता, प्राण-तत्त्व पर्याप्त मात्रा में कैसे जाएगा और जो शरीर के भीतर दूषित तत्त्व जमा हुआ है वह बाहर कैसे निकलेगा।

श्वास की भी सीमा है। वह नाक से लिया जाता है और श्वास नलिका में से होता हुआ फेफड़े में पहुंच जाता है। उससे आगे कोई रास्ता नहीं। श्वास का रास्ता बहुत छोटा है हमारे शरीर में। शरीर बहुत बड़ा है। शरीर श्वास के आधार पर नहीं चल रहा है। हम लोग श्वास के आधार पर नहीं जी रहे हैं। हम जिससे जी रहे हैं वह है- प्राण। श्वास तो प्राण का एक स्फुलिंग है, एक चिनगारी मात्र है। मूल शक्ति है- प्राण। हम प्राण के द्वारा जी रहे हैं। प्राण हमारे पूरे शरीर में फैला हुआ है। प्राण के लिए शरीर का पूरा मार्ग खुला हुआ है। कोई भी मार्ग ऐसा नहीं, जहां प्राण-शक्ति न जा सके और यदि प्राण-शक्ति न जा सके तो वह अंग भी फिर जीवित अंग नहीं होगा, मृत अंग होगा। पूरे शरीर से हम प्राण को ग्रहण करते हैं। ऊपर से प्राण को लेते हैं, नीचे से प्राण को लेते हैं, तिरछी दिशाओं से प्राण को लेते हैं, दाएं-बाएं, आगे-पीछे, एक भी शरीर का कण ऐसा नहीं, जिनके द्वारा प्राण-शक्ति को न ले सकें, लेते हैं।

## जीवन है प्राण

श्वास को रोका जा सकता है। एक मिनट भी रोका जा सकता है, एक दिन भी रोका जा सकता है और एक वर्ष भी रोका जा सकता है। अश्वास की साधना की जा सकती है किन्तु अप्राण होकर एक क्षण भी नहीं रहा जा सकता। यदि हमारे शरीर के प्राण के स्रोत अलग हो जाएं तो शरीर एक सेकेण्ड भी नहीं जी सकता। सारे शरीर में प्राण के स्रोत हैं, द्वार हैं जिनमें से प्राण जाता है। शरीर का कोई भी हिस्सा नहीं, जो प्राण का स्रोत न हो। एक घटना पढ़ी थी- किसी व्यक्ति ने शरीर पर लेप लगा लिया, रोम बंद कर दिए, छिद्र बंद कर दिए। सो गया। वह सुबह जीवित नहीं मिला। जीवित रहना संभव भी नहीं है। जब प्राण के द्वार बंद हो जाएं तो फिर प्राणी का जीना कभी संभव नहीं हो सकता। हमारी मूल शक्ति है-प्राण की शक्ति। श्वास का प्रयोग प्रारंभिक प्रयोग है। यह भी प्रयोग है कि पूरे शरीर से प्राण को ले सकें। कायोत्सर्ग की मुद्रा में लेट गए, एक संकल्प के साथ, पूरे शरीर से श्वास लेना शुरू किया। प्राण का ग्रहण शुरू किया और इस अनुभव में लग गए

कि पूरा शरीर, शरीर का कण-कण और शरीर का हर सैल श्वास ले रहा है। पूरे शरीर की संवेदनशीलता जाग जाएगी और पूरा शरीर-प्राण शक्ति से ओतप्रोत हो जाएगा। यह प्राणशक्ति के विकास का प्रयोग है। अध्यात्म के आचार्यों ने केवल उपदेश नहीं दिया कि प्राण शक्ति का विकास करो। उन्होंने इसके प्रयोग भी बतलाए और उनमें यह महत्वपूर्ण प्रयोग है- पूरे शरीर से प्राण लेने का अनुभव करना।

### तीन महत्वपूर्ण केन्द्र

साधना की दृष्टि से तीन बहुत महत्वपूर्ण केन्द्र हैं-

१. प्राण-केन्द्र- नासाग्र।
२. दर्शन-केन्द्र
३. ज्योति-केन्द्र- आचार के अनुशासन का केन्द्र, स्वभाव-परिवर्तन और स्वभाव-नियंत्रण का केन्द्र

स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास के लिये ये तीन अपेक्षाएँ हैं-प्राण शक्ति का विकास, अन्दृष्टि का विकास और अनुशासन या नियन्त्रण का विकास।

पहली बात है- प्राणशक्ति का विकास। यदि हम नासाग्र का ठीक उपयोग करें, प्राणकेन्द्र पर दीर्घकाल तक ध्यान करें तो प्राणशक्ति का विकास हो जाता है। प्राणशक्ति का विकास हुए बिना अगला विकास होना कठिन लगता है। प्राणशक्ति एक विस्फोट की शक्ति है। शक्ति के बिना दुनिया में कुछ भी नहीं होता। सारे काम शक्ति के माध्यम से होते हैं। मनुष्य को संघर्ष भी करना पड़ता है, विस्फोट भी करना पड़ता है। हमारा जीवन समन्वयात्मक है, सह-अस्तित्व वाला है, किन्तु उसमें संघर्ष के बीज भी छिपे हुए हैं। अतः संघर्ष करना भी जरूरी है और स्वतंत्र व्यक्तित्व के निर्माण के लिए तो संघर्ष करना बहुत जरूरी है। पलायन से काम नहीं चलता, संघर्ष जरूरी होता है। संघर्ष शक्ति के बिना हो नहीं सकता। उसके लिए भी प्राणशक्ति का विकास चाहिए।

### अन्तर्दृष्टि का विकास

शक्ति आखिर शक्ति है। शक्ति का उपयोग अच्छे काम के लिए भी हो सकता है और शक्ति का उपयोग बुरे काम के लिए भी हो सकता है। शक्ति का उपयोग अच्छे काम के लिए हो, इसके लिए जरूरी है अन्तर्दृष्टि का विकास। कोरा प्राणशक्ति का विकास बहुत खतरनाक बन जाता है। उस विकास को भी ठीक दिशा में संचालित करने के लिए अन्तर्दृष्टि का विकास चाहिए। अन्तर्दृष्टि के विकास का

स्थान है- दर्शनकेन्द्र। दर्शनकेन्द्र पर ध्यान करने वाला व्यक्ति अन्तर्दृष्टि को उपलब्ध हो जाता है। अन्तर्दृष्टि मन एवं बुद्धि की सीमा से परे है। जहाँ मन, वृद्धि और विवेक की सीमा समाप्त हो जाती है, उससे परे की सीमा है- अन्तर्दृष्टि का विकास। समूचा धर्म अन्तर्दृष्टि के विकास से उपजा है।

जिसकी अन्तर्दृष्टि जाग जाती है उसका चिन्तन, उसके विचार, उसके निर्णय- सारे अलौकिक हो जाते हैं। हम किसको लौकिक और किसको अलौकिक मानें? कोई बीच में सीमा रेखा तो होनी चाहिए। दोनों की सीमा रेखा है अन्तर्दृष्टि।

### अलौकिक है अन्तर्दृष्टि का व्यवहार

दो जगत् हैं। एक है बुद्धि का जगत् और दूसरा है अतीन्द्रिय ज्ञान का जगत्। दोनों के बीच में है अन्तर्दृष्टि का जगत्। जहाँ तक बुद्धि है वह है लौकिक और बुद्धि से परे अन्तर्दृष्टि की सीमा में प्रवेश करना है- अलौकिक। अन्तर्दृष्टि का निर्णय, अन्तर्दृष्टि का व्यवहार, अन्तर्दृष्टि का आचार- सारा अलौकिक होता है बुद्धि का व्यापार, बुद्धि का व्यवसाय, बुद्धि का निर्णय और बुद्धि का आचरण- यह सारा लौकिक होता है।

राजा ने प्लेटो को फांसी की सजा दे दी। संयोगवश फांसी नहीं हो सकी। गुलाम बना दिया। गुलाम बनना भी बहुत बड़ा दण्ड था उस समय। किसी स्वतंत्र व्यक्ति को गुलाम बना देना और उसे मालिक की इच्छा पर निर्भर कर देना, यह दण्ड था। स्वामी चाहे तो पीटे, मारे, जो चाहे सो करे। प्लेटो को गुलाम बना दिया। सचाई का पता चला तो उसे मुक्त कर दिया। गुलामी से वह मुक्त हो गया। राजा ने क्षमा मांगते हुए कहा- मैंने अपराध किया। बिना सचाई को पहचाने, आपको कष्ट दिया, फांसी की सजा दी, मैं क्षमा चाहता हूँ, आप मुझे क्षमा करें।

प्लेटो ने कहा- 'मैं सत्य की शोध में लीन हूँ।' मुझे पता ही नहीं कि तुमने फांसी की सजा दी और तुमने मुझे गुलाम बनाया। किसकी माफी दूँ, किसको क्षमा करूँ।

क्या यह कोई लौकिक निर्णय हो सकता है? क्या यह कोई बुद्धि का निर्णय हो सकता है? यदि बुद्धिवादी आदमी होता तो बड़ा अभियोग पत्र तैयार करता। कितने तर्क प्रस्तुत करता कि तुमने बिना सोचे-समझे मुझे दण्ड दिया, मुझे फांसी की सजा दी, गुलाम बनाया, इतना कष्ट दिया और अब क्षमा चाहते हो। क्या यह संभव है? यह कभी नहीं होगा। जब तक प्रतिशोध न ले लूँ, जब तक बदला न ले लूँ तब तक क्षमा की बात नहीं हो सकती। न जाने कितने ऐसे स्वर सुनने को मिलते

हैं कि यह सारी गड़बड़ी तो कर दी और अब क्षमा चाहता है। मैं ऐसा नहीं हूँ कि क्षमा दे दूँ। मैं उसे याद दिलाऊंगा कि क्षमा क्या होती है और उसने क्या किया था? लौकिक निर्णय तो यही होना चाहिए। इससे आगे क्या हो सकता है? यही होता है। शत-प्रतिशत यही होता है।

प्लेटो का अलौकिक स्वर कहां से आया? बुद्धि से नहीं आया। घटना को न देखना, घटना की प्रेरणा को न देखना, किन्तु घटना की एक अलौकिक व्याख्या करना- यह अन्तर्दृष्टि का स्वर हो सकता है, बौद्धिक जगत् का स्वर नहीं हो सकता।

### अनिवार्य है आध्यात्मिक प्रशिक्षण

स्वतंत्र व्यक्तित्व के लिए अन्तर्दृष्टि का विकास बहुत जरूरी है। जब तक अन्तर्दृष्टि का विकास नहीं होता तब तक हमारा व्यक्तित्व स्वतंत्र नहीं हो सकता। फिर तो हम दूसरों के इशारों पर खेल सकते हैं, किन्तु अपनी स्वतंत्र चेतना का उपयोग नहीं कर सकते।

क्या आदमी दूसरों के इशारों पर नहीं खेलता? स्वतंत्रता कहां उपलब्ध होती है? स्वतंत्रता की बात बहुत होती है किन्तु प्राणशक्ति का समुचित विकास हुए बिना और प्राणशक्ति के द्वारा अन्तर्दृष्टि को विकसित किए बिना स्वतंत्रता की चेतना जागती नहीं। जिन लोगों ने प्राणशक्ति का विकास नहीं किया अथवा प्राणशक्ति को अन्तर्दृष्टि के विकास में नहीं लगाया, वे हजारों वर्षों की चर्चा, विवेचना और उपदेशना के बाद आज भी अलौकिक और अन्तर्दृष्टि की प्रतीक्षा में बैठे हुए हैं। यह प्रतीक्षा अनन्तकाल तक चले तो भी काम नहीं होगा। प्रतीक्षा प्रतीक्षा रह जाएगी।

हम चाहते हैं- स्वतंत्र चेतना का जागरण हो, जिससे हमारी शिक्षा की सार्थकता बने और हम सही काम कर सकें। बिना प्रयत्न, बिना साधना, बिना अध्यात्म की दिशा का सहारा लिए ऐसा कभी संभव नहीं होगा। स्वतंत्र व्यक्तित्व की निर्मित के लिए शिक्षा के साथ अध्यात्म की शिक्षा का योग होना अनिवार्य है।

### प्रयोग के स्तर पर

केवल धर्म के आचार्य नहीं, आज के समाज-शास्त्री, वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक भी इस भाषा में सोचते हैं कि पुराने मनुष्य के एक आंख और होती थी उसकी वह तीसरी आंख थी दर्शन-केन्द्र और ज्योति-केन्द्र। यह हर आदमी के

होती थी। आदमी उसका उपयोग करता था। उसके द्वारा दूर की बातों को देखता था। किन्तु जैसे-जैसे सामाजिक संघर्ष बढ़े, दूसरी परिस्थितियाँ बढ़ीं, बाहरी आवेश ज्यादा बढ़ा, वैसे-वैसे उसका उपयोग भूलते चले गए और वह तीसरी आंख लुप्त हो गई। छिपी हुई आज भी है किन्तु लुप्त हो गई। अन्तर्दृष्टि का विकास आध्यात्मिक प्रयोगों के बिना संभव नहीं। यह तो अच्छा हुआ कि शिक्षा के साथ सिद्धान्त के साथ प्रयोग की बात जुड़ गई। विज्ञान की सारी शिक्षा प्रायोगिक शिक्षा होती है। प्रयोग साथ में चलता है। केवल पढ़ना ही नहीं होता, प्रयोग चलता है। यह ध्यान की शिक्षा सैद्धांतिक भी है और प्रायोगिक भी। सिद्धांत भी चलता है और प्रयोग भी चलता है। यदि ध्यान की शिक्षा-पद्धति में कोरा सिद्धांत हो और प्रयोग न हो तो यह भी वैसी ही शिक्षा बन जाएगी। बिना प्रयोग के कुछ भी नहीं होता। एक आदमी ध्यान के बारे में दस पुस्तकें पढ़ ले, दो वर्ष तक बराबर पढ़ता रहे। मात्र बौद्धिक व्यायाम जैसा हो जाएगा, मिलेगा कुछ भी नहीं। जब तक अभ्यास नहीं होगा, तब तक कुछ भी उपलब्धि नहीं होगी।

यह निश्चित है कि अभ्यास के बिना अनुभव की चेतना नहीं जागेगी, अन्तर्दृष्टि नहीं जागेगी। अभ्यास जरूरी है। केवल कुछ दिन का अभ्यास पर्याप्त नहीं है। ध्यान कोई जादू-टोना या सम्मोहन नहीं है कि एक क्षण में ही अन्तर्दृष्टि जाग जाए। ध्यान तो एक परिस्थिति का निर्माण है। चेतना की परिस्थिति का निर्माण है। कुआं खोदने वाले का काम है- कुआं खोद देना। पानी लाने वाले का काम है- घर में पानी लाकर रख देना। पानी है, गिलास पड़ा है, कोई आदमी पानी नहीं पीता है, तो क्या कुएं का दोष होगा? क्या पानी लाने वाले का दोष होगा? उनका जितना काम था कर दिया, किन्तु पानी पीना तो अपने हाथ की बात है। यदि हमारा सतत अभ्यास चालू नहीं है तो ध्यान के द्वारा जो लाभ मिलना चाहिए वह लाभ कभी नहीं मिलता। आवश्यक है, उसका निरंतर प्रयोग चले, अभ्यास चले। अभ्यास के द्वारा हमारी अन्तर्दृष्टि जागती है।

### नियंत्रण हो नियंत्रण कक्ष पर

तीसरी बात है- अनुशासन का विकास। ललाट के मध्य में ज्योतिकेन्द्र है। उससे सारा संचालन होता है। भृकुटी से लेकर गिर के अगले भाग तक पांच-छह अंगुल का जो भाग है, वह पूरे संचालन का काम कर रहा है। इसीलिए सबसे ज्यादा इस पर ध्यान केन्द्रित करना जरूरी है। यह खोज आज से हजारों वर्ष पहले हो चुकी थी। आज के शरीर-शास्त्र का प्रतिपादन है- पिच्यूटरी, पीनियल और हाइपोथैलेमस-

ये तीन हमारे पूरे व्यक्तित्व का संचालन कर रहे हैं। संचालन करना, संतुलन करना हमारे विशेष केन्द्रों पर निर्भर है। एक बहिन बीमार हो गई। उसका संतुलन खो गया। खड़ी नहीं रह सकती, गिर जाती है। चलते-चलते लड़खड़ा जाती । बहुत निदान किया, पता नहीं चला। आखिर बम्बई के एक कुशल डॉक्टर ने सही निदान किया। दवा दी और ठीक हो गई। क्या थी बीमारी? पता चला कि कान के पास एक स्नायु है। उस स्नायु में थोड़ी-सी गड़बड़ हो जाती है तो हमारा संतुलन खो जाता है। कान के पास छोटा-सा, पतला-सा स्नायु है, उसका संतुलन बिगड़ता है तो आदमी लड़खड़ाने लगता है, वह ठीक से न बैठ सकता है, न लेट सकता है और न चल सकता है। संतुलन रखने वाले अवयवों का बड़ा महत्त्व होता है। नियन्त्रण करने वाले, शासन करने वाले तत्वों का बहुत ज्यादा महत्त्व होता है। हमारे शरीर का यह नियन्त्रण-कक्ष जो समूचे शरीर की गतिविधियों का नियन्त्रण करता है जो समूचे साम्राज्य का नियन्त्रण करता है, केवल पांच-छह अंगुल की सीमा में है। इसको साधने का अर्थ है- अनुशासन का विकास।

दर्शन-केन्द्र अन्तर्दृष्टि को विकसित करता है, ज्योति-केन्द्र सारी आचारात्मक प्रवृत्तियों का नियन्त्रण करता है और अग्रिम मस्तिष्क समूचे तापमान का नियन्त्रण करता है। इन सबका नियन्त्रण करता है हाइपोथेलेमस। वह पीनियल पर भी नियन्त्रण करता है। पीनियल पिच्यूटरी को नियंत्रित करती है। यह पांच-छह अंगुल का भाग सारा नियन्त्रण करता है और यहां समूचे शरीर का नियन्त्रण होता है।

जब ये तीन विकास हो जाते हैं-प्राणशक्ति का विकास, अन्तर्दृष्टि का विकास और अनुशासन (नियन्त्रण) की शक्ति का विकास- तभी स्वतंत्र व्यक्तित्व संभव है। उसके बिना स्वतंत्र व्यक्ति का निर्माण कभी संभव नहीं हो सकता।

**क्या हम स्वतंत्र हैं ?**

हर व्यक्ति अपने आप में गर्व करता है कि मैं स्वतंत्र हूँ। सभी राष्ट्र अपने आप में गर्व करते हैं कि हम स्वतंत्र हैं। सार्वभौम सत्ता हमारी स्वतंत्र है। किन्तु स्वतंत्रता है कहां? इतने बंधे हुए हैं एक दूसरे से और इतने प्रभावित होते हैं एक दूसरे से कि स्वतंत्रता है कहां?

जस्टिस कृष्णा अय्यर ने एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही थी- लोग अपेक्षा करते हैं कि न्यायाधीश स्वतंत्र रहे, निष्पक्ष रहे। पर क्या वे इस सचाई को नहीं जानते कि न्यायाधीश भी एक समाज का आदमी होता है। न्यायाधीश के परिवार होता है। उसके मित्र होते हैं, सगे-सम्बन्धी होते हैं, सलाहकार होते हैं और सबसे



बड़ी बात है कि न्यायाधीश के अपने संस्कार होते हैं, अपनी रुचियां होती हैं और अपने विचार होते हैं इतने प्रतिबंधों से प्रतिबद्ध आदमी से आशा की जाए कि वह स्वतन्त्र हो, निष्पक्ष हो, उसका निर्णय स्वतन्त्र हो, निष्पक्ष हो, क्या यह अपेक्षा रखना भी औचित्यपूर्ण बात होगी? कभी नहीं। जब तक आदमी प्रतिबंधनों से बंधा हुआ है तब तक संभव नहीं कि वह स्वतंत्र बन सके।

स्वतंत्र व्यक्ति के निर्माण की एक ही व्यवस्था हो सकती है और वह है- अध्यात्म शिक्षा का अनुशीलन, ध्यान का अभ्यास। जब अन्तर्दृष्टि जाग जाती है तब ये सारे प्रतिबंध अपने आप शिथिल हो जाते हैं।

आज विज्ञान के पूरे विकास के साथ, लौकिक विद्याओं के पूरे विकास के साथ, मनुष्य स्वतंत्र व्यक्तित्व के निर्माण की कल्पना कर रहा है। यह ठीक समय है वास्तव में स्वतन्त्र व्यक्तित्व के निर्माण के लिए अध्यात्म को जोड़ा जाए, ध्यान को साथ में जोड़ा जाए।

हम जैसे हैं उसी में संतुष्ट हैं या और कुछ होता है ? अगर कुछ बनना है तो कुछ करना भी है। प्रयत्न के बिना, पुरुषार्थ और पराक्रम के बिना परिवर्तन नहीं होता। एक परिवर्तन सहज होता है जो किसी संकल्प की, इच्छा की या प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखता, अपने आप होता है। उसके लिए न हम जिम्मेवार हैं और न कोई परिस्थिति जिम्मेवार है। पूरी जिम्मेवारी कालचक्र की होती है। समय के साथ सहजभाव से वह परिवर्तन और परिणमन होता रहता है। पदार्थ-जगत् का कोई पदार्थ, प्राणी-जगत् का कोई भी प्राणी ऐसा नहीं जो उस परिवर्तन से नहीं बदलता हो। प्रतिक्षण, प्रतिपल बदलाव होता रहता है।

## बदलाव का बिन्दु

दूसरा परिवर्तन हमारी संकल्पना के साथ होता है। हम संकल्पशक्ति का प्रयोग करते हैं, अपनी इच्छा शक्ति का प्रयोग करते हैं, बदलना चाहते हैं और बदल जाते हैं शायद आज तक के पूरे साधना के इतिहास में, मानव जाति के पूरे विकास-क्रम में ऐसा नहीं हुआ होगा कि प्राणी न बदलने की कामना की हो, और बदलना चाहा हो और न बदला हो। सचमुच जो बदलना चाहता है, वह जरूर बदल जाता है। हमारी चाह में कमी होती है, आस्था और निष्ठा में दुर्बलता होती है, जब हम नहीं बदलते। जो लोग बदलने का संकल्प करते हैं और फिर भी बदलते नहीं हैं तो मानना चाहिए- कहीं न कहीं कोई भूल है। हमारी भावना बदलने के बिंदु पर पहुंच जाए, और हम न बदलें, ऐसा कभी संभव नहीं है। पानी बर्फ बन

सकता है, किन्तु ठीक तापमान तक पहुंचना चाहिए। ठीक तापमान के बिन्दु तक नहीं पहुंचता तो पानी पानी रहेगा, पानी बर्फ नहीं बनेगा। पानी भाप बन सकता है यदि तापमान ठीक मिल जाए। प्रश्न है तापमान का, कितने तापमान तक हमारी भावना पहुंचती है, किस बिन्दु तक पहुंचती है। यदि अदम्य भावना, प्रबल कामना मन में हो तो सचमुच बदलाव आता है। ध्यान बदलने की प्रक्रिया है। ध्यान के द्वारा, संकल्प शक्ति के प्रयोग के द्वारा मनुष्य जितना बदल सकता है उतना और कोई दुनिया में साधन नहीं कि वह बदल सके।

### धार्मिक होने का अर्थ

प्रत्येक प्राणी धार्मिक क्षेत्र में प्रवेश करता है तो बदलने की बात पहले सोचता है! आत्मा से परमात्मा बनने की बात सोचता है। वर्तमान में आत्मा जिस रूप में है उस रूप में परमात्मा की कामना नहीं हो सकती। आत्मा के विचित्र रूप हैं। सारी बुराइयां, सारे आवेग, सारे आवेश इसी आत्मा में रह रहे हैं। यह आत्मा परमात्मा नहीं बन सकती। परमात्मा वही आत्मा बन सकती है जो बदलना शुरू कर दे। जिस क्षण में बदलना शुरू कर दे वहां से परमात्मा बनने की हमारी यात्रा शुरू हो जाती है। एक क्षण में कोई परमात्मा नहीं बन जाता। कोई वमत्कार नहीं, कोई जादू नहीं। लम्बी अवधि तक के परिवर्तन की प्रक्रिया चलती है। जो आज शुरू होती है, बढ़ते-बढ़ते एक क्षण ऐसा आता है हजारों वर्षों के बाद कि आत्मा परमात्मा बन जाती है। प्रत्येक धार्मिक अपने सामने यह लक्ष्य रखता है, यह ध्येय बनाता है कि परमात्मा बनना है। धार्मिक होने का मतलब है- बदलने का संकल्प स्वीकार करना।

आज के वैज्ञानिक बदलने की बात में बहुत लगे हुए हैं। सारी की सारी 'जेनेटिक इंजीनियरिंग' बदलने में लगी हुई है। जीन को बदला जाए। जीन बदलेगा तो सारी पीढ़ी बदल जाएगी। मनुष्य का निर्माण होगा तो नई पीढ़ी का निर्माण होगा और वह निर्माण हम चाहेंगे वैसा होगा। आदमी जैसा बीज बोता है वैसी ही खेती होती है। वैज्ञानिकों की कल्पना है कि ऐसा समय आने वाला है जब हम आदमी को जैसा चाहें वैसा पैदा कर सकेंगे। साहित्यकार को पैदा करना है तो साहित्यकार को पैदा कर सकेंगे। लेखक को पैदा करना है तो उसे पैदा किया जा सकेगा। बाजार में लोग जाएंगे कि ऐसा लड़का या लड़की चाहिए, वैसी ही जीन मिल जाएंगी। उसे बाजार में खरीदा जा सकेगा। मनुष्य ने इतना ज्ञान विकसित किया है कि वह जीन को बदलने की स्थिति में पहुंच गया है।

रासायनिक परिवर्तनों के द्वारा जीन को बदलने की बात हो रही है। हमारे ध्यान में कोई रासायनिक प्रक्रियाएँ नहीं हैं। हमारे पास न प्रोटीन हैं, न एसिड्स हैं और न दूसरे रासायनिक तत्त्व हैं। न आर० एन० ए०, न डी० एन० ए०, कोई भी नहीं है। फिर परिवर्तन की क्या बात करें?

### बदलना हमारे हाथ में है

परिवर्तन की बात को जिन लोगों ने अस्वीकार किया, उन्होंने सारी व्यवस्था को नियति की संज्ञा दे दी। हम नियत हैं। जो जैसा है, वैसा है। जो है, वह है। कोई परिवर्तन होने वाला नहीं है। परिवर्तन का सारा सूत्र नियति के हाथ में है। किन्तु पुरुषार्थवादी दर्शन ने इस नियति के दर्शन को स्वीकार नहीं किया। उनका सूत्र यह रहा कि हम बदल सकते हैं, कर्म को बदल सकते हैं, भाग्य को बदल सकते हैं। यदि शरीर-प्रेक्षा के द्वारा प्रत्येक कोशिका को, प्रत्येक सेल को, हम अपनी भावना से प्रभावित कर सकें तो अपने शरीर को भी बदला जा सकता है, ज्ञान और दृष्टि को भी बदला जा सकता है, आने वाले प्रवाह और भाग्य को भी बदला जा सकता है। यह सब हमारे हाथ में है।

### बदलाव के सूत्र

मनुष्य बहुत अच्छे ढंग से अपने आपको बदल सकता है। बदलने के लिए सबसे पहले उसे प्रकाश चाहिए। वह प्रकाश है- अंतर्दृष्टि, भीतरी प्रकाश। भीतरी प्रकाश की एक भी किरण फूट पड़ती है तो हमारी बदलने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। जब तक अंधेरा है, अनास्था है, अज्ञान है तब तक बदलने की बात नहीं हो सकती। सबसे पहली बात है हमारी आस्था बने कि मैं अपने आपको बदल सकता हूँ। यह संदेह समाप्त हो जाए कि होगा या नहीं होगा, ऐसा कर पाऊँगा या नहीं कर पाऊँगा? जब तक यह संदेह रहेगा, तब तक कुछ नहीं होगा।

जो व्यक्ति कुछ होना चाहता है, उसे सबसे पहले एक छलांग लगानी पड़ती है। जो छलांग लगाना नहीं जानता, वह विकास के क्रम को तेजी से आगे नहीं बढ़ा पाता। चींटी की चाल चलने वाला विकास के शिखर पर कैसे पहुँच सकता है? इसके लिए तो बहुत छलांगें लगानी पड़ती हैं। खतरे भी मोल लेने पड़ते हैं। खतरों से, कठिनाइयों से घबराने वाला कोई भी व्यक्ति परिवर्तन नहीं कर सकता, बड़ा काम नहीं कर सकता। वह जिस स्थिति में है उस स्थिति में ही संतोष मानता रहता है। सबसे पहले खतरों को मोल लेने की भावना जागती है, वह संकल्प और आस्था जागती है, परिवर्तन शुरू होता है।

पहली शर्त है प्रकाश। जब बिजली चली जाती है तो मोमबत्ती को खोजना पड़ता है। वह मिलती भी है और नहीं भी मिलती। मूल बात है कि हमारी बिजली बनी रहे। हमारी यह प्राण की बिजली, प्राण-विद्युत् जब सक्रिय होती है तब सब ठीक चलता है और जब बिजली मन्द होने लगती है तब पता चलता है कि जीवन जीना कितना कठिन काम है। १० वर्ष के बच्चे को, छलांग भरना, २-३ सीढ़ियाँ एक साथ चढ़ जाना और उतर जाना सरल लगता है, किन्तु वही जब ७० वर्ष का होता है तब पता चलता है कि तीन-तीन सीढ़ियाँ कैसे एक साथ उतरा जाता है? कैसे कूदा जा सकता है? वह अपने पैरों से भी नहीं चल सकता, तीसरा पैर और बनाना पड़ता है, क्योंकि प्राण क्री बिजली चुक जाती है। आस्था का निर्माण भी प्राण-विद्युत् के सहारे होता है।

### प्राण शक्ति का अपव्यय न हो

हमारे विकास की, हमारे परिवर्तन की सबसे पहली शर्त है- प्रकाश अन्तर्दृष्टि का प्रकाश, प्राण की शक्ति का प्रकाश। प्राण की शक्ति को व्यर्थ न खोएं, यह आवश्यक है। एक कंजूस आदमी पैसे को खर्च नहीं करता, पैसें को खर्च करने का प्रसंग आता है तो बड़ी मुसीबत आ जाती है, उसकी आंखें ही नहीं, हाथ भी रोने लग जाते हैं। आंखों में ही आंसू नहीं आते, हाथ में भी आंसू आने लग जाते हैं, उसी प्रकार प्राण शक्ति के व्यय के लिए भी हमें कंजूस होना चाहिए।

उतना ही काम लें, जितना जरूरी है, व्यर्थ काम न लें, और जिस दिन यह भावना जागी, व्यर्थ के सारे काम बन्द हो जाएंगे। गुस्सा कैसे करेंगे? गुस्सा करने का मतलब है प्राणशक्ति को व्यर्थ में बहा देना। उसका नाला खोल देना, द्वार खोल देना। जितने आवेग हैं, जितनी आवेशपूर्ण प्रवृत्तियाँ हैं, जितनी तीव्र वासनाएं हैं, वे सारी प्राणशक्ति का अपव्यय करने वाली हैं। प्राणशक्ति को बचाने की पूरी प्रक्रिया धर्म की प्रक्रिया है। उससे अपने आप चेतना का जागरण होता है। प्राणशक्ति, जो व्यर्थ में खर्च हो रही थी, वह शक्ति सुरक्षित बन जाती है और दूसरी दिशा में उसका उपयोग होने लग जाता है।

### बदलने का दूसरा सूत्र

परिवर्तन का दूसरा सूत्र है समता। समता का एक अर्थ है- सर्दी और गर्मी को सहने की क्षमता; चांद और सूरज- दोनों का बराबर उपयोग। यह प्रक्रिया हमारी श्वास की प्रक्रिया है। हठयोग का मतलब हठ करना, कष्ट देना नहीं है। यह बहुत

गलत अर्थ है। इस अर्थ में हठयोग का प्रयोग नहीं हुआ है। यह एक सांकेतिक शब्द है। 'ह' और 'ठ' अर्थात् चन्द्र और सूर्य। हमारा बायाँ स्वर चन्द्र है। दायाँ स्वर सूर्य है। जो व्यक्ति समभाव का विकास करना चाहता है जीवन में संतुलन लाना चाहता है, उसे चन्द्र और सूर्य- दोनों की साधना करनी होगी।

**चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।  
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसतुं॥**

इसमें सिद्ध की स्तुति की गई है। परमात्मा चन्द्रमा की भांति निर्मल होता है, सूर्य की भांति प्रकाश देने वाला होता है, समुद्र की तरह गंभीर होता है। यह है परमात्मा का स्वभाव, परमात्मा की प्रकृति। चांद का उपयोग निर्मलता के लिए तथा सूर्य का उपयोग करना प्रकाश के लिए। इससे जीवन में समता आती है। जहां चांद का प्रयोग नहीं, सूर्य का प्रयोग नहीं वहां संतुलन नहीं आता, समता नहीं आती।

ध्यान का एक प्रयोग है प्राण-केन्द्र के साक्षात्कार का। उसके प्रारंभ में दो बार चन्द्रस्वर से श्वास लिया जाता है और सूर्यस्वर से निकाला जाता है। प्रश्न हो सकता है- ऐसा क्यों? सूर्य स्वर से शुरू क्यों न करें? केवल बाएं स्वर से ही क्यों शुरू करें? इसका रहस्य है- हमारे मन का सम्बन्ध चन्द्रमा से है। चन्द्रमा का मन पर असर होता है। चन्द्रमा के द्वारा जैसे समुद्र में ज्वार-भाटा आता है वैसे ही चन्द्रमा के द्वारा मन में भी ज्वार भाटा आता है। कुछ विशेष दिन होते हैं जब मनुष्य को चन्द्रमा बहुत प्रभावित करता है। चन्द्रमा का मन के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है- मन को शान्त करने की, मन को विकल्पशून्य करने की मन को अमन की साधना होती है तो वहां प्रारंभ में चन्द्रस्वर का प्रयोग शुरू किया जाता है। जहां प्राणशक्ति को तीव्र करने की प्रक्रिया है, वहां सूर्यस्वर के द्वारा प्रयोग किया जाएगा। चन्द्रमा और सूर्य- इन दोनों की साधना के बिना हमारे जीवन में संतुलन नहीं आता, समता नहीं आती। परिवर्तन की प्रक्रिया में बहुत बड़ा महत्त्व है- चन्द्र और सूर्य का। चन्द्र और सूर्य हैं निर्मलता और प्रकाश के प्रतीक। बायाँ स्वर निर्मलता का प्रतीक है और दायाँ स्वर सक्रियता और प्रकाश का प्रतीक है। जिस व्यक्ति ने अपने श्वास को नहीं समझा, श्वास को नहीं साधा, वह जीवन में परिवर्तन नहीं ला सकता।

परिवर्तन की बहुत बड़ी प्रक्रिया है- श्वास का अनुभव।

### भावना का प्रयोग

परिवर्तन का एक सूत्र है- भावना का प्रयोग। एक व्यक्ति ने संकल्प किया-

मैं अमुक होना चाहता हूँ, अमुक प्रकार का होना चाहता हूँ वह किसको निर्देश दे? मस्तिष्क को देने से ही काम नहीं चलेगा। निर्देश देना होगा प्रत्येक सेल को। प्रत्येक कोशिका तक इस बात को पहुंचा देना होगा कि मैं अमुक होना चाहता हूँ। जब तक हम अपनी बात अपने शरीर की कोशिकाओं तक नहीं पहुंचाएंगे तब तक परिवर्तन शुरू नहीं होगा। कैसे पहुंचेंगे? इतनी सूक्ष्म कोशिकाएं हैं, वे हमारी बात को कैसे सुनेंगी? वे हमारी बात को कैसे जानेंगी? सामने कोई आदमी हो तो सुन भी सकता है। वे कैसे सुनेंगी? उन्हें सुनाने की प्रक्रिया है- भावना का प्रयोग, स्व-सम्मोहन का प्रयोग, ऑटो सजेशन। अपने आपको सूचना देना। अपने आप भावना के द्वारा सम्मोहित हो जाना। शरीर प्रेक्षा के द्वारा शरीर के भीतर प्रयोग करना, फिर संकल्प शक्ति के द्वारा, भावना के प्रयोग द्वारा, बदलने की भावना को उन तक पहुंचा देना।

। प्रत्येक कोशिका में ज्ञान-केन्द्र है। प्रत्येक कोशिका में प्रकाश-केन्द्र है, बिजली का कारखाना है। हर कोशिका का अपना एक कारखाना है विद्युत का, शक्ति का। वे कोशिकाएं अपने ढंग से काम करती हैं। उनको बदलना है, उनको नया जन्म और नया रास्ता देना है तो अपनी भावना को उन तक पहुंचाना होगा। जब तक हमारी भावना उन तक नहीं पहुंचती, तब तक हम बदल नहीं सकते। उदाहरण लें- आदमी अपनी क्रोध की आदत को बदलना चाहता है। संकल्प करता है- मैं क्रोध नहीं करूंगा। बार-बार संकल्प करता है, पर सफल नहीं होता। संकल्प तो करता है पर गुस्सा वैसा ही है। कितने ही लोग बुरे काम करते हैं और पछताते हैं। शराबी शराब को छोड़ने का संकल्प करते हैं, तम्बाकू का व्यसनी तम्बाकू को छोड़ने का संकल्प करता है, सोचता है, सेवन नहीं करूंगा, पर समय आता है, भीतर से ऐसी प्रबल मांग जागती है कि संकल्प धरा का धरा रह जाता है। ऐसा इसलिए होता है कि हम अपने संकल्प को वहां तक पहुंचा नहीं पाते।

## निर्णय का आधार

हमारा निर्णय बाहर की घटनाओं के आधार पर होता है। जैसी घटना आंखों के सामने, विचार के सामने आती है हम वैसा ही सोचने लग जाते हैं। यह जो प्रक्रिया है इसका सम्बन्ध बाहरी घटनाओं से नहीं होता। हम बाहरी घटनाओं के आधार पर निर्णय लेंगे तो सफल नहीं हो पाएंगे। हम सारा का सारा निर्णय भीतर से लें। हमारे ज्ञानतन्तु, कोशिकाएं बदल सकती हैं, किन्तु उतना निश्चित अध्यवसाय, उतनी गहरी भावना और तन्मयता, उतना श्वास का प्रयोग कि हम प्राणशक्ति तक अपनी बात को पहुंचा दें, कोशिका में जो प्राणशक्ति काम कर रही

है वहां तक अपनी भावना को पहुंचा दें और उसे प्रेरित कर दें। यह सारा संभव प्रयोग है। कोई भी व्यक्ति इसे कर सकता है। प्राकृतिक चिकित्सक बतलाते हैं कि यदि कब्ज है तो बड़ी आंत के ज्ञानतंतुओं को निर्देश देना सीखो। उनसे बातचीत करना सीखो। वे आदेश नहीं मानेंगे। दुनिया में आदेश को मानना कोई जानता ही नहीं है। किन्तु मृदुता के साथ, सद्भावना के साथ, प्रियता के साथ उसको निर्देश दो। मित्रवत् व्यवहार करो। उन्हें तैयार करो, वे बात मानने लग जाएंगे। अपना काम करने भी लग जाएंगे। जिस-जिस अवयव के ज्ञानतंतु और कर्मतंतु अपना काम करना बंद कर देते हैं- यदि गहरा शरीर-प्रेक्षा का अनुभव हो और प्रत्येक सेल तक पहुंचने की साधना हो तो व्यक्ति अपनी भावना को उन तक पहुंचा सकता है और अपना काम उनसे करा भी सकता है।

यह भावना का प्रयोग, संकल्प शक्ति का प्रयोग, अप्रभावित रहने का प्रयोग संतुलन का प्रयोग है। इससे जीवन में समता घटित होती है और आदमी सौ कदम आगे बढ़ जाता है।

### सहिष्णुता का प्रयोग

परिवर्तन की प्रक्रिया का तीसरा सूत्र है- सहिष्णुता, सहन करना। परिवर्तन के लिए बहुत जरूरी है- सहना करना। जो सहन करना नहीं जानता, वह बदल नहीं सकता। जो व्यक्ति यह सोचता है- मैं यह काम करता हूं, लोग क्या कहेंगे? उनकी गति वहीं समाप्त हो जाती है। जो व्यक्ति बदलना चाहते हैं वे यह सोचें-मुझे क्या करना है?

हमारी सहिष्णुता का विकास होना चाहिए। सहिष्णुता का अर्थ है- सर्दी को सहना, गर्मी को सहना। सर्दी मौसम की भी आती है और सर्दी भावना की भी आती है। अनुकूल कष्ट का नाम है सर्दी और प्रतिकूल कष्ट का नाम है गर्मी। जिस व्यक्ति ने अपने शरीर से सर्दी और गर्मी को नहीं सहा, वह कच्चा रह गया। जिस व्यक्ति ने अपने मानसिक जगत् में अनुकूलता को नहीं सहा, प्रतिकूलता को नहीं सहा, वह साधना के क्षेत्र में कच्चा आदमी रह गया। जब चाहें तब उसे दुःख दिया जा सकता है, दुःखी बनाया जा सकता है, जो पक जाता है उसे दुःख देना बड़ा कठिन होता है। जब तक मिट्टी का घड़ा कच्चा है, पक नहीं जाता, तब तक काम नहीं होता। न पानी रखा जा सकता है, न और कुछ ही रखा जा सकता है। उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। कच्चे पर कोई भरोसा नहीं किया जा सकता। भरोसा पैदा होता है पक जाने पर। साधना की आंच में अनुकूलता और प्रतिकूलता को

झेलते-झेलते जो पक जाता है, वह विश्वास करने योग्य बनता है, अन्यथा सत्तर वर्ष का आदमी भी अविश्वसनीय ही रहता है। बड़ी उम्र हो जाने से कोई विश्वास पात्र नहीं बन जाता। एक छोटी उम्र का आदमी भी विश्वास पात्र बन जाता है यदि वह पक जाता है। यदि नहीं पकता है तो जीवन में बड़े खतरे रहते हैं। परिवर्तन की प्रक्रिया है- पक जाना। पकने के लिए दो आंचों से गुजरना पड़ता है। एक अनुकूलता की आंच और दूसरी प्रतिकूलता की आंच। प्रतिकूलता की आंच को सहना कठिन काम है तो अनुकूलता की आंच को सहना कठिनतम काम है। जितना खतरा अनुकूलता से होता है, उतना खतरा प्रतिकूलता से नहीं होता।

### शक्ति को निर्माणत्मक शक्ति में बदलने का प्रयोग।

ध्यान के द्वारा इन दोनों स्थितियों का पार पाया जा सकता है, अनुशासन स्थापित किया जा सकता है। श्वास के साथ बहुत सारे रासायनिक तत्व होते हैं वे वाहन का काम कर सकते हैं, माध्यम बन सकते हैं। किसी विचार को पहुंचाना है, किसी स्थिति को सहना है तो श्वास संयम के बिना सहज-सरल नहीं होगा। यदि हमने श्वास को साध लिया, दीर्घ श्वास और समताल श्वास का प्रयोग करना सीख लिया तो अनुकूल और प्रतिकूल स्थिति को भी झेल सकते हैं। प्रतिकूल स्थिति को झेलना पड़ता है दिमाग की गर्मी में। सामने प्रतिकूल स्थिति आती है और मस्तिष्क में गर्मी छा जाती है। उत्तेजना आती है, तब पीनियल और पिच्यूटरी में भयंकर गर्मी पैदा हो जाती है। ये सारे स्थान बहुत सक्रिय हो जाते हैं। यदि उस समय श्वास का अच्छा अभ्यास होता है तो लाभ प्राप्त कर लेते हैं। कोई भी प्रतिकूलता मन में आ रही है, मन में पारा गर्म हो रहा है, उत्तेजना भभक रही है, तत्काल समताल श्वास का प्रयोग शुरू किया जाए तो ऐसा लगेगा कि आग और पानी दो हैं और बीच में कोई बर्तन आ गया। आग जल रही है, पानी डालो आग बुझेगी, पानी फालतू चला जाएगा। आग जल रही है, बर्तन रखकर पानी डालो, पानी गर्म हो जाएगा, काम बन जाएगा। श्वास की क्रिया एक ऐसा बर्तन है। अगर इसका उपयोग किया जाए तो आंच भी लगेगी और जो कुछ आएगा, वह फालतू नहीं लगेगा, उसका भी उपयोग हो जाएगा। जो शक्ति क्रोध के द्वारा खर्च होती थी, वह शक्ति बच जाएगी और काम की शक्ति बन जाएगी। जितने आवेग, आवेश और वासनाएं हैं, वे सारे के सारे प्राण की शक्ति को खर्च करते चले जाते हैं।

आग भी उपयोगी है और पानी भी उपयोगी है। आग में पानी डालो, आग बुझ जाएगी और पानी फालतू चला जाएगा। अगर हम आग और पानी के बीच में



समतल श्वास का बर्तन रखना सीख जाए तो पानी भी खराब नहीं होगा, काम बन जाएगा। आग भी नहीं बुझेगी और हम उसे बहुत काम में ले पाएंगे।

### संकल्प की सफलता

सहिष्णुता का प्रयोग, सहन करने का प्रयोग, श्वास के बिना संभव नहीं होता। भगवान् महावीर के कष्टों की चर्चा हमने सुनी है। बाहुबली की बारह मास तक लगातार खड़े रहने की बात हम जानते हैं। बाल मुनि गजसुकुमाल के सिर पर अंगारे रख दिए गए और वे समभाव में खड़े रहे, यह हमने सुना है। न जाने कितने साधकों, संन्यासियों और धार्मिकों को हम जानते हैं, जिन्होंने बहुत कुछ सहा है, पर एक प्रश्न होता है कि सिर पर अंगारा क्या कोई सह सकता है? पैरों में आग क्या कोई सह सकता है। लाठी की मार पड़े, क्या कोई सह सकता है? वह विरोध भी न जताए, क्या ऐसा हो सकता है? कभी संभव नहीं तो सर्वथा असंभव भी नहीं। पर यह संभव तब बनता है जब हमारी चेतना श्वास के साथ बिलकुल जुड़ जाए। चेतना और श्वास एक जैसी बन जाए, तब यह संभव हो सकता है। महावीर सागर की भांति गंभीर थे, समुद्र की इतनी गहराई में चलै गए कि लाठी मारने वाला चमड़ी पर मारता है पर उसे जानने वाला सागर में गोते लगाने चला गया। स्थान खाली पड़ा है। लाठी चली, पर घर तो खाली है। कष्ट किसको होगा? जो कष्ट को अनुभव करने वाला था वह तो बहुत गहराई में चला गया। यह गहराई की बात श्वास की प्रक्रिया के द्वारा की जाती है।

### आन्तरिक परिवर्तन के दो सूत्र

परिवर्तन के दो महत्त्वपूर्ण हेतु और हैं—धर्मचिन्ता और जातिस्मृति (पूर्वजन्म का ज्ञान)।

राजा ने बूढ़े बैल की स्खलित गति को देखकर सोचा, बूढ़ा होने पर ऐसा होता है तो क्या मुझे भी बूढ़ा होकर इस स्थिति से गुजरना पड़ेगा? इस चिन्तन ने परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। अब राजा राजा नहीं रहा, वह मोक्ष मार्ग का पथिक बन गया, मुनि बन गया।

जब यह चेतना जाग उठती है तब मनुष्य के जीवन का यात्रा पथ बदल जाता है, दिशा बदल जाती है, आकर्षण बदल जाता है और तब वह घटित होता है, जिससे आदमी समाधि के लिए प्रस्थान कर देता है, समाधि में चला जाता है।

चित्त की समाधि या परिवर्तन का दूसरा सूत्र है— पूर्व जन्म की स्मृति। आदमी का मन सदा उलझा रहता है, मन की असमाधि बनी की बनी रहती है।

किन्तु कभी-कभी ऐसा अवसर आता है कि पूर्वजन्म का ज्ञान उतर आता है और असमाधि समाप्त हो जाती है।

मगध सम्राट् महाराज श्रेणिक का पुत्र मेघकुमार मुनि बना। पहले ही दिन उलझ गया। अप्रत्याशित कष्टों से घबरा कर वह श्रामण्य से छुटकारा पाने का विचार कर बैठा। तत्काल उसे पूर्वजन्म की स्मृति करवाई गई। पूर्वजन्म की सारी घटनाएं उसकी आंखों के सामने चलचित्र की भांति एक-एक कर उभरने लगीं। मुनि मेघकुमार की चेतना आहत हुई। उसका सामर्थ्य जाग उठा। वह सम्भल गया। असमाधि मिटी और वह पुनः श्रामण्य में स्थिर हो गया।

### मन का शोधन

पानी पीया जाता है जब प्यास होती है। प्यास के बिना भी पानी पीया जाता है। पर वह पानी नहीं होता, जो प्यास के समय पीने वाला पानी होता है। प्यास लगे, यह बहुत जरूरी है। यदि प्यास न लगे तो शरीर की शुद्धि नहीं हो सकती। शरीर में बहुत सारे मैल जम जाते हैं पानी से उनका शोधन हो जाता है। शरीर के आन्तरिक अंगों को अपना काम करने के लिए पानी की जरूरत होती है। शरीर को लचीला रखने के लिए पानी की जरूरत होती है। पानी की शरीर को जरूरत है और उस जरूरत की पूर्ति प्यास के द्वारा होती है।

मन की शुद्धि भी प्यास के द्वारा होती है। जब तक प्यास नहीं जागती पानी नहीं पीया जाता, मन की शुद्धि नहीं होती। यह ध्यान उस प्यास का उत्तर है। जब प्यास लगती है तो उसे पानी चाहिए। ध्यान एक पानी है जो मन पर जमे हुए सारे कषाय के मैलों को दूर करता है। मन की बहुत सूक्ष्म रचना है और उसमें बहुत सारे सूक्ष्म मैल प्रतिदिन जमते रहते हैं। शरीर का शोधन जितना जरूरी है उतना ही जरूरी है मन का शोधन, मस्तिष्क का शोधन। आजकल शोधन की बात कुछ गौण हो गई है। आयुर्वेद का विज्ञान था कि शोधन किया जाए और फिर दवा ली जाए। अब दमन की बात है, शोधन की बात नहीं है। कहा जाता है- इतनी तेज दवा लो कि जो कुछ है, वह दब जाए। दब तो जाएगा, पर वह मिटेगा नहीं। जैसे ही कोई अवसर मिलेगा, वह एक साथ फूट पड़ेगा। यह दबाने की प्रक्रिया एक बात है और शोधन की प्रक्रिया दूसरी बात है।

### तीन तत्त्व : मानसिक जगत्

वात, पित्त और कफ- ये शरीर के तीन दोष माने जाते हैं। मानसिक दृष्टि से देखें तो मानसिक जगत् में भी वात, पित्त और कफ होते हैं। क्रोध, उत्तेजना- ये

मानसिक पित्त हैं। लोभ, लालच, आकांक्षा- ये मानसिक कफ हैं। प्रकृति दोनों की समान है। पित्त का काम है- गर्मी बढ़ाना, स्फूर्ति लाना, तेजी लाना। वही काम गुस्से का है। उससे भी स्फूर्ति आ जाती है, आंखें लाल हो उठती हैं, चेहरा भी तमतमा उठता है। कफ मृदुता लाता है। हमारे शरीर में जो लचीलापन है वह कफ के कारण है। कफ सूख जाए तो शरीर अकड़ जाए। लचीलापन, मृदुता, कोमलता, स्निग्धता- यह कफ के कारण हैं। यदि कफ की कमी हो जाए तो कोई आदमी बौद्धिक काम नहीं कर सकता।

तीसरा दोष है- वात। मानसिक जगत् में जो चंचलता है, जो प्रेरणा है, वह वात है। सारी प्रेरणा वायु से मिलती है। यदि हमारे शरीर में वायु न हो, आदमी चल भी नहीं सकता। कोई प्रेरणा नहीं हो सकती, कोई प्रवृत्ति नहीं हो सकती। शरीर में रक्त का संचार होता है, उसके पीछे भी वायु का योग होता है। वात, पित्त और कफ- ये सारे वायु के द्वारा संचालित होते हैं। इन तीन दोषों का संतुलन बिगड़ता है तो बीमारी पैदा होती है। मानसिक शोधन के लिए इनका संतुलन जरूरी है।

### जीवन विज्ञान- अगला कदम

शारीरिक स्वास्थ्य के लिए बहुत सारे केन्द्र हैं किन्तु मानसिक स्वास्थ्य के लिए बहुत सारे केन्द्र नहीं हैं। इस विद्या पर हमारा ध्यान ही नहीं है, क्योंकि लौकिक शिक्षा के द्वारा एक दृष्टिकोण बन पाया- समस्या पदार्थ जगत् से पैदा होती है और समस्या का समाधान भी पदार्थ जगत् में ढूँढ़ना होगा। जगत् की सीमा को छोड़कर हम न समस्या पर विचार करते हैं और न समाधान पर विचार करते हैं। समस्या और समाधान दोनों का स्रोत है- पदार्थ का जगत्। चेतना के जगत् से तो जैसे हमारा कोई वासना ही नहीं है। न समस्या के बारे में हम चेतना पर विचार करते हैं और न समाधान के लिए वहां खोज करते हैं। शरीर पर बीमारी पैदा होती है। सीधा ध्यान डाक्टर और दवा पर जाता है, बाह्य पर जाता है। कभी हम इस बात को नहीं सोचते कि बीमारी का कारण भीतर भी हो सकता है, बीमारी का समाधान भीतर भी मिल सकता है। हमारी दृष्टि भी नहीं जाती और इसलिए नहीं जाती कि हमें जीवन-विज्ञान की शिक्षा उपलब्ध नहीं है। विश्वविद्यालयों में हायर स्टडीज के प्रयोग चलते हैं उच्चतम अध्ययन की सुविधाएं मिलती हैं, उच्चतम अध्ययन, किन्तु उन्हीं शाखाओं, जो शाखाएं हमें बाहर की ओर ले जाती हैं, दृष्टि को बाहर ही अटका देती है। यह अध्यात्म-विद्या उससे एक अगला कदम है,

शिक्षा को सर्वांगीण बनाने का उपाय है। हम शिक्षा को सर्वांगीण बनाएं, अपनी दोनों आंखों से काम लें और अपने दोनों पैरों से चलें। समस्या है तो उसका मूल स्रोत बाहर खोजें और भीतर भी खोजें। समाधान करना है तो समाधान को बाहर भी खोजें और भीतर भी खोजें। केवल अटकें नहीं। बाहर भी न अटकें भीतर भी न अटकें। बाहर और भीतर- दोनों सीमाओं पर जाएं और दोनों सीमाओं का अध्ययन कर समस्या को समझें और उसका समाधान खोजें।

## विस्मृति का रोग

मानसिक दृष्टि से विस्मृति का विचित्र रोग होता है। आदमी बहुत भूल जाता है और भूलने का एक कारण भी शायद यही है कि वह बाहर की ओर बहुत ज्यादा आकृष्ट होता है। बाहर में इतना खोजता है कि अपनी विस्मृति हो जाती है। अपने आस-पास की विस्मृति हो जाती है और अपनी अन्वेषणीय वस्तु की विस्मृति हो जाती है।

गोद में बच्चा है और बाहर दूढ़ने जा रहा है। पूछा-कहां जा रहे हो? बच्चा खो गया, उसे दूढ़ने जा रहा हूं। तुम्हारी गोद में क्या है? अच्छा, यह बच्चा है; पता ही नहीं चला मुझे।

यह पढ़कर हंसी आती है, पर इस प्रकार की आत्म-विस्मृतियां कौन नहीं करता? हर व्यक्ति करता है। अपने आपकी विस्मृति, अपने भीतर की विस्मृति, अपनी अच्छाइयों की विस्मृति और अपनी बुराइयों की विस्मृति। आदमी बुराई करता चला जाता है और पता ही नहीं चलता कि मैं कोई बुराई कर रहा हूं। अच्छाई करता है, उसका भी पता नहीं चलता। अपने भीतर की शक्ति का भी पता नहीं चलता कि मैं क्या कर सकता हूं? कुछ आदमी बड़े निराशा के गीत गाते हैं और जब-जब निराशा का स्वर सामने आता है तो ऐसा लगता है, रचनात्मक और सृजनात्मक शक्ति समाप्त हो गई है। केवल निषेधात्मक पक्ष बचा है। कभी बिजली जलेगी नहीं। प्रकाश के लिए दोनों शक्तियां चाहिए। निषेधात्मक शक्ति भी चाहिए और विधायक शक्ति भी चाहिए। जब विधायक शक्ति समाप्त हो जाती है तो फिर निषेधात्मक शक्ति से हमारा कोई काम सधता नहीं।

## चिकित्सा हो प्राणशक्ति की

आज की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि हम अपनी शक्ति पर भरोसा खो बैठे हैं। हमारी सबसे पहली शक्ति है-प्राणशक्ति। यह हमारे समूचे जीवन को संचालित करती है। हमें अपनी प्राणशक्ति पर भरोसा नहीं है। हम कुछ जानते भी

नहीं और कोई प्रयोग भी नहीं करते। बहुत सामान्य बात है। शरीर में कोई बीमारी पैदा हुई, दवाई लेते हैं। दवाई लेना कोई बुरी बात नहीं है। एक साधन है। जैसे भोजन करते हैं और एक मांग की पूर्ति करते हैं वैसे ही दवाई लेना कोई बुराई की बात नहीं होती। दवा ली। जो कुछ क्षति हो गई, उसकी पूर्ति कर ली। यदि हम भोजन को ही जीवन मान बैठें, भोजन को ही स्वास्थ्य देने वाला मान बैठें, तो बुराई हो जाएगी। दवा तब काम करती है जब प्राणशक्ति ठीक होती है प्राणशक्ति का दीप जब टिमटिमाने लग जाता है तब कितनी दवाइयां लो, कोई काम नहीं करेगी। दवा पहली बात नहीं है। पहली बात है प्राणशक्ति। जब-जब शरीर पर कोई आक्रमण हो, सर्दी का, बीमारी का, ज्वर का तो सबसे पहले हमारा ध्यान जाना चाहिए कि प्राणशक्ति में कहीं न कहीं असंतुलन हुआ है। बिजली की जो धारा चल रही थी, जो प्रवाह चल रहा था, कहीं अवरोध पैदा हुआ है। कहां खराबी हुई है, इस बात की ओर ध्यान जाए और सहायक सामग्री के रूप में दूसरे पदार्थ पर भी ध्यान जाए, बात ठीक हो जाएगी।

### भीतर की शक्ति

कान से कम सुनाई देने लगा। डॉक्टर से पूछा गया-कोई उपाय है? डॉक्टर ने कहा-कोई उपाय नहीं है। आधुनिक वैज्ञानिक साधनों से सम्पन्न डॉक्टर अगर यदि कहे कि आज कान से सुनने का कोई उपाय नहीं है, इसका मतलब है कि बाहर की शक्ति व्यर्थ है। उस शक्ति का अब कोई उपयोग नहीं। जो कान की आंतरिक शक्ति थी वह अब समाप्त हो रही है। इसलिए दवा अब कोई काम नहीं करेगी। आंख बिलकुल ठीक देख रही है। कोई फर्क नहीं पड़ता। साफ, स्वच्छ और निर्मल, किन्तु ज्योति समाप्त। ज्योति कहां चली गई है? बस, भीतर के स्नायु सिकुड़ गए, आंख ठीक है पर ज्योति चली गई। आंख ठीक, फिर भी दिखाई नहीं देता। कान का पर्दा ठीक, फिर भी सुनाई नहीं देता। बाहर आकार ठीक है, संरचना ठीक है किन्तु भीतर कोई गड़बड़ी हो गई। यहां भीतर में प्रवेश करने का द्वार हमारे सामने आता है। देखने की शक्ति दो भागों में बंटी हुई है। जैन आचार्यों ने इसे कहा-निर्वृत्ति इन्द्रिय और उपकरण इन्द्रिय। एक है निर्वृत्ति-इन्द्रिय की संरचना, उसका आकार और दूसरा है उपकरण इन्द्रिय-अपने विषय को ग्रहण करने वाली शक्ति। यदि विषय को ग्रहण करने वाली भीतर की शक्ति चुक जाती है तो बाहर का आकार कितना ही सुन्दर रहे, कोई काम नहीं होता।

शक्ति भीतर की होती है। बाहर से तो उसे थोड़ा पोषण मिलता है, सहारा

मिलता है। शक्ति का स्रोत बाहर नहीं है। स्रोत भीतर में है। वह है प्राणशक्ति। यदि यह बात समझ में आ जाए कि शक्ति का स्रोत बाहर नहीं, भीतर है तो समस्या का समाधान हो सकता है। पर हमारी समझ में यह बात आई हुई है कि शक्ति का स्रोत बाहर में है, पानी, भोजन और दवा में है।

### भीतर भी देखें, बाहर भी देखें

जीवन-विज्ञान के द्वारा एक मौलिक परिवर्तन यह होता है कि हमारी दिशा बदल जाती है। दोनों में परिवर्तन आता है। जो शक्ति का स्रोत है, उसे स्रोत मानने लग जाते हैं और जो उस शक्ति का सहायक है उसे सहायक मानने लग जाते हैं। यही तो है हमारी सम्यग् दृष्टि, अन्तर्दृष्टि। यह अन्तर्दृष्टि जाग जाती है तो हम बाहर को भी देखते हैं और भीतर को भी देखते हैं। एक वह दृष्टि है जो केवल बाहर को देखती है और एक वह दृष्टि है जो बाहर को भी देखती है और भीतर को भी देखती है, दोनों को देखती है। केवल ऊपर देखें, काम नहीं बनेगा। केवल पीछे देखें, तो काम नहीं बनेगा। दाएं-बाएं देखें तो भी काम नहीं बनेगा, चारों ओर देख लें, पर जब तक नीचे-मूल की ओर नहीं देखेंगे तब तक काम नहीं हो सकेगा।

हमारी दृष्टि ऊपर की ओर जाती है, पीछे भी जाती है, पर जो मूल है, वहां नहीं पहुंच पाती। जब तक दृष्टि बाहर रहती है, केवल बाह्य में ही हमारी आस्था और विश्वास जमा रहता है, तब तक हमारे सामने प्रतिबिम्ब ज्यादा आते हैं, मूल का स्पर्श नहीं होता। जब दृष्टि अन्तर्मुखी बन जाती है फिर उसका प्रकाश चारों ओर फैलता है। जब प्रकाश फैलता है, सचाई हमारे सामने आ जाती है। अन्तर्दृष्टि को भी समर्थन दें। समर्थन के बिना अन्तर्दृष्टि का भी विकास नहीं होता। उसके लिए जरूरी है प्रयोग, पराक्रम। आज धर्म की जो सबसे बड़ी समस्या है, सत्य की खोज की जो सबसे बड़ी समस्या है वह है प्रयोगहीन धर्म। जो धर्म प्रयोगात्मक था, सिद्धांतात्मक कम और प्रयोगात्मक ज्यादा, वह धर्म आज केवल विचारात्मक और सिद्धांतात्मक रह गया। प्रयोगात्मकता छूट गई। अन्तर्दृष्टि के जागरण का परिणाम होगा प्रयोग की शक्ति का विकास, प्रयोगात्मक क्षमता का विकास।

### प्रयोग करें : प्रकाश करें

सत्य की यात्रा बहुत लम्बी है। लम्बा रास्ता पार करना होगा। यह न मानें-आज चले और आज ही सब कुछ उपलब्ध हो गया और यह भी न मानें-आज चले और आज कुछ भी नहीं मिला, जो जितना चला उसे उतना जरूर मिलेगा।

छोटा-सा प्रकाश भी पूरे मार्ग को प्रकाशित कर सकता है। छोटा-सा प्रकाश

जब हमारे पास होता है तो रास्ता चाहे पांच मील का हो, चाहे पचास मील का, प्रकाश अपना काम करेगा। उसमें कोई फर्क नहीं पड़ेगा। अन्तर्दृष्टि का प्रकाश जब व्यक्ति को मिल जाता है तो उसका पूरा रास्ता प्रकाशित हो जाता है। वह प्रकाशित रास्ता है-प्रयोग। हम प्रयोग करना सीखें। वर्तमान की समस्या को समाधान दें अपने प्रयोगों के द्वारा। बहुत छोटे-छोटे प्रयोग। एक है आर्यबिल का प्रयोग। ध्यान करने वाले व्यक्ति आर्यबिल का प्रयोग करते हैं, केवल थोड़ा-सा चावल खाते हैं, थोड़ा पानी पीते हैं और कुछ नहीं करते। उससे इतना अच्छा ध्यान होता है कि पूरा भोजन करने पर भी नहीं होता। खाने के बाद ध्यान कैसा होता है, पूरा खाने पर ध्यान कैसा होता है, और कम खाने पर ध्यान कैसा होता है, ये सारे प्रयोग बन गए। कम खाकर देखो कि ध्यान कैसा होता है और डटकर खाकर देखो कि ध्यान कैसा होता है, ठूस कर खा लो, पानी व हवा के लिए भी जगह न रहे, आकंठ मग्न हो जाए, फिर ध्यान में उतरो, ध्यान कैसा होगा। ज्यादा खाकर ध्यान की संभावना ही हमने समाप्त कर दी। ध्यान कैसे उतरेगा ? ध्यान उतरेगा खाली में। ध्यान उतरेगा शून्य में। हमने तो शून्य को भर दिया। अवकाश ही नहीं रखा कि ध्यान उतर सके। थोड़ा खाकर देखो ऊनोदरी करके देखो। ध्यान कैसा होता है? यह एक प्रयोग है। उपवास करके देखो कि ध्यान कैसा होता है? यह तीसरा प्रयोग है। बहुत स्थूल बात लगती है। किन्तु प्रत्येक स्थूल बात के पीछे एक सूक्ष्म रहस्य छिपा होता है। उपवास, आर्यबिल और अल्प भोजन के द्वारा अपने भीतर के रसायन बदलते हैं, शारीरिक-रासायनिक परिवर्तन होता है, जैविक-रासायनिक परिवर्तन होता है। आर्यबिल के अनेक लाभ बतलाए गए हैं। पुराने ग्रंथों में बहुत वर्णन किया गया है आर्यबिल के गुणों का। कुछ लोग यह मानते हैं-यह हमारी एक भारतीय परम्परा है, किसी चीज पर बल देते हैं तो ज्यादा दे देते हैं। किसी को महत्त्व देते हैं तो बहुत ज्यादा महत्त्व दे देते हैं। हठयोग के ग्रन्थों में लिखा मिलेगा, मुद्रा का प्रयोग करो। मुद्रा 'जरामृत्युविनाशनम्' -बुढ़ापे को नष्ट कर देगी और मौत नहीं आएगी। जिन्होंने ये ग्रन्थ लिखे, वे बूढ़े भी हुए हैं और मरे भी हैं।

### यथार्थ का निरूपण

जैन आगम कहते हैं-'सर्वदुःखविमोक्खणट्ठे करेमि काऊस्सग्ग'- कायोत्सर्ग करो। सब दुःखों से छुटकारा मिल जाएगा। लगता है कि ये सब अतिशयोक्तियां कर दी गईं। किन्तु हम मुड़कर देखते हैं तो ऐसा लगता है कि ये अतिशयोक्तियां नहीं, ये आंतरिक अनुभवों के निरूपण हैं। जिन लोगों ने प्रयोग

किए, सचाई की गहराई में गए, वहां जो देखा, उन्होंने कहा- जरा (बुढ़ापे) का विनाश हो जाएगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि अवस्था के साथ बूढ़ा नहीं होगा। इसका अर्थ है- बुढ़ापा सताएगा नहीं, बुढ़ापा दुःखद नहीं बनेगा। दुःख देने वाला बुढ़ापा समाप्त हो जाएगा। मृत्यु नष्ट हो जाएगी, इसका अर्थ यह नहीं कि मौत नहीं आएगी। मौत आएगी किन्तु सताएगी नहीं। मौत का भय नहीं होगा, कम्पन नहीं होगा, घबराहट नहीं होगी। मौत एक राक्षसी की मुद्रा में उपस्थित नहीं होगी। बहुत सहज, इच्छा-मृत्यु बन जाएगी। कायोत्सर्ग के द्वारा सब दुःखों से छुटकारा मिलता है। इसका अर्थ है-दुःखों से छुटकारा पाने का पहला कोई उपाय है तो वह है-कायोत्सर्ग। जिस व्यक्ति ने कायोत्सर्ग की साधना की, उस व्यक्ति ने सभी दुःखों की जड़ को हिला दिया। जैसे ही कायोत्सर्ग होता है, आदमी शिथिल होता है, अपनी अकड़-पकड़ को छोड़ता है, दुःखों की नींव हिलने लग जाती है, सारे दुःख छूटने लग जाते हैं। आर्यबिल के बारे में भी बहुत सारी सचाइयां स्पष्ट हो चुकी हैं। एक अनाज खाने वाले व्यक्ति के शरीर में रसायन का परिवर्तन शुरू हो जाता है। कोई भी व्यक्ति महीनों तक केवल एक अनाज का प्रयोग करे, रसायन बदल जाएंगे। उसकी दूसरी दृष्टि जाग जाएगी। प्राकृतिक चिकित्सक कहते हैं, भोजन में एक से ज्यादा अनाज मत लो! एक से ज्यादा अनाज लेने का मतलब है पित्ताशय पर भार डालना और स्वास्थ्य के प्रति अन्याय करना, किन्तु अध्यात्म के क्षेत्र में तो यह बात कही गई-अनाज के साथ और कुछ भी नहीं, केवल अनाज। एक नया परिवर्तन होगा, शारीरिक दृष्टि से भी, मानसिक दृष्टि से भी और कुछ शक्तियों के जागरण की दृष्टि से भी। इसीलिए हजारों-हजारों तपस्वियों ने आर्यबिल के लम्बे प्रयोग किए और वह आर्यबिल का प्रयोग शक्ति-जागरण में सहायक बना। साधना के क्षेत्र में आज भी सैकड़ों-सैकड़ों उपाय और प्रयोग हमारे सामने बचे हैं। प्रश्न है-पराक्रम का। रास्ता भी हमारे सामने है। बदलने की प्रक्रिया हमारे सामने है। किन्तु प्रश्न है चलने का।

### जीवन विज्ञान से उपलब्धियां

जीवन विज्ञान के क्षेत्र में ये तीन उपलब्धियां होंगी-

१. अपनी शक्तियों से परिचय ।
२. अपनी शक्तियों के परिचय से उपलब्ध विकास के मार्ग।
३. अनुशीलन और प्रयोग।

अपनी शक्ति को जानें, प्रयोग की शक्ति को जानें और विकास के मार्ग को



जानें-ये तीन दिशाएं हमारे सामने स्पष्ट होती हैं, प्रयोग चलते हैं तो आस्था का निर्माण अपने आप होता है।

यदि मन में सचमुच बदलने की भावना है, जो है वही नहीं रहना चाहते, जैसे हैं वैसे ही नहीं रहना चाहते और आगे बढ़ना चाहते हैं तो हम परिवर्तन की प्रक्रिया का प्रयोग करें, संकल्प को अपनी कोशिकाओं तक पहुंचा दें। निश्चय रखें, संदेह न करें। एक किसान की भांति मन में अटूट विश्वास रखें कि खेती होगी। बीज बोते ही जिस किसान का हाथ कांप उठता है। वह खेत कभी पूरा नहीं पड़ेगा। हमें वैसा किसान बनना है, जो अवृष्टि की सम्भावना को ध्यान में रखते हुए भी अपने कर्तव्य से विमुख नहीं होता। एक बार पानी गिरता है, तत्काल खेत में बीज बोना शुरू कर देता है। हमारी वैसी आस्था जागे, हमारा वैसा संकल्प जागे, हम परिवर्तन के सूत्रों का प्रयोग करें, स्वतंत्र व्यक्तित्व के निर्माण का रहस्य उपलब्ध हो जाएगा।

### अभ्यास

१. स्वतंत्र व्यक्तित्व कौन होता है ? समझाइए ।
२. स्वतंत्र व्यक्तित्व के निर्माण के लिए प्राण-शक्ति का विकास क्यों जरूरी है ?
३. जीवन विज्ञान पद्धति में व्यक्ति के परिवर्तन की प्रक्रिया क्या है, कुछ सूत्रों पर प्रकाश डालिये ।

## जीवन विज्ञान और सामाजिक जीवन

### जीवन की दो पद्धतियां

जीवन की दो पद्धतियां हैं-वैयक्तिक जीवन पद्धति और सामाजिक जीवन पद्धति। दोनों साथ-साथ चलती हैं। कोई भी व्यक्ति सोलह आना सामाजिक नहीं होता और कोई भी व्यक्ति सोलह आना वैयक्तिक नहीं होता। दोनों प्रणाली परस्पर मिली हुई हैं। प्रधानता की अपेक्षा से वैयक्तिक प्रणाली और सामाजिक प्रणाली-ये दो विभाग होते हैं। अधिकांश लोग सामाजिक जीवन जीते हैं। साधना की पद्धति भी सामाजिक बनी हुई है। कुछ लोग वैयक्तिक साधना करते हैं। कहीं दूर-दराज पहाड़ों की गुफाओं में, कंदराओं में चले जाते हैं। वहां जो कुछ मिलता है, उससे जीवन चला लेते हैं और वहीं एकांत में रहते हैं। ऐसे लोग बहुत कम होते हैं। सत्य की प्रबल जिज्ञासा सब लोगों में नहीं जागती। वैज्ञानिक लोग सत्य की खोज में लगे हुए हैं तो अध्यात्म के साधक भी सत्य की खोज में लगे हुए थे और हैं।

वैज्ञानिक आदमी भी पूरा सामाजिक जीवन नहीं जीता। उसकी दुनिया समाज से हटकर कुछ अलग-सी हो जाती है। वैयक्तिक जीवन भी पूरा नहीं होता। उसे अपना भी भान नहीं रहता। जब सत्य की खोज में गहरी निष्ठा जागती है तब शरीर और शरीर को पोषण देने वाला भोजन भी गौण हो जाता है। उसे पता ही नहीं चलता कि खाया या नहीं खाया। बात अटपटी सी लगती है, विश्वास करना भी कठिन होता है। किन्तु जब चेतना किसी दूसरी दिशा में प्रस्थित होती है और उसकी गहराई में जाती है तो यह बात भी संभव हो जाती है कि भोजन का भी पता न चले और नींद का भी पता न चले। खाना खाया या नहीं खाया, नींद ली या नहीं ली, स्मृति नहीं रहती।

सत्य का शोधक अध्यात्म के क्षेत्र में यात्रा करता है, वह इतना कम खाता है कि दूसरे लोग सोचते हैं, यह तो शरीर को सता रहा है, किंतु उसकी खाने के प्रति जो एक आकांक्षा होती है, वह कम हो जाती है। वहां मात्र जीवन-यात्रा का निर्वाह बचता है। सब लोग जीवन-यात्रा को चलाने के लिए नहीं खाते, दूसरे उद्देश्य से

खाते हैं, आकांक्षा से खाते हैं। सत्य-शोधक की आकांक्षा समाप्त हो जाती है। आकांक्षा से खाने वाले को एक बड़ी मात्रा की जरूरत होती है। आकांक्षा को छोड़कर खाने वाले को बहुत थोड़ी मात्रा की जरूरत होती है। पोषण थोड़ी मात्रा से भी हो सकता है। हम जितना खाते हैं, पोषण के लिए नहीं खाते, किन्तु आदतवश खाते हैं। एक आदत बना लेते हैं और आदत को पूरा करने के लिए खाते हैं।

वैयक्तिक साधना के लोग संकरी पगडंडी पर चलते हैं, फिर वह चाहे वैज्ञानिक हो, चाहे अध्यात्म का साधक हो या ध्यान की आराधना करने वाला हो। ऐसा मार्ग कुछ लोग चुनते हैं। उतनी तितिक्षा, उतनी तपस्या हर व्यक्ति में नहीं होती कि उस मार्ग को चुने। सामान्य आदमी सामाजिक जीवन ही जीएगा। जीवन में जो कुछ है, वह करेगा।

ध्यान-साधना की एक पद्धति है वैयक्तिक और दूसरी है सामुदायिक। जीवन विज्ञान की पद्धति मुख्यतः सामाजिक पद्धति है, क्योंकि वह सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाली है।

### आस्था बदले

जीवन विज्ञान का दृष्टिकोण है-सबसे पहले आस्था बदले। ध्यान न करने वाले और ध्यान करने वाले व्यक्ति की आस्था में बहुत बड़ा अन्तर होता है। ध्यान सामुदायिक हो या वैयक्तिक, आखिर सत्य की खोज का मार्ग तो है ही। इसमें कोई सन्देह नहीं। सत्य के खोज की जिज्ञासा न जागे तो ध्यान की रुचि ही पैदा नहीं होगी। जब अज्ञात को ज्ञात करने की भावना जागती है, अपने भीतर क्या है, यह जानने की भावना जागती है, अपने भाग्य को जानने और उसे बदलने की जिज्ञासा भी पैदा होती है, तब कहीं मनुष्य ध्यान के मार्ग में प्रवृत्त होता है।

ध्यान करने वाले लोगों के सामने एक प्रश्नचिह्न है। उस प्रश्नचिह्न पर उन्हें गंभीरता से ध्यान को केन्द्रित करना है। यदि ध्यान के द्वारा कोई शक्ति नहीं जागी, जीवन की कोई रेखा नहीं बदली, पुरानी रेखा नहीं मिटी और नई रेखा नहीं खींची गई तो फिर लोग नहीं समझेंगे ध्यान का मूल्य। ध्यान करने वाला भी पूरा मूल्य नहीं समझ पाएगा।

प्रत्येक प्रवृत्ति की कसौटी समाज में होती है, मूल्यांकन समाज में होता है वैयक्तिक मूल्य नहीं होता, वैयक्तिक कसौटी नहीं होती। ध्यान के द्वारा कुछ बदलना चाहिए।

## वैज्ञानिक पद्धति

जीवन विज्ञान की पद्धति वैज्ञानिक इस अर्थ में है कि केवल अंधेरी कोठरी में ढेला फेंकने की बात इसमें नहीं है। पूरे विज्ञान के साथ यह चलती है। कारण और परिणाम-दोनों का स्थान इसमें है। इस आदत का कारण क्या है और इसका परिणाम क्या है? इसके बदलने का हेतु क्या है? इसका परिणाम क्या है? और इसकी प्रक्रिया क्या है? यह सब बहुत स्पष्ट है गणित की भांति। किसी को संदेह करने की जरूरत नहीं। शरीर-विज्ञान को जानने वाला, मानव-विज्ञान को जानने वाला इस सचाई को बहुत जल्दी पकड़ लेता है, उसकी समझ में आ जाता है कि हमारे शरीर में जो विशिष्ट केन्द्र हैं चेतना के, उनका फंक्शन क्या है? उनका परिणाम क्या है? यह बात तो शरीर विज्ञानी जानता है किंतु ध्यान के द्वारा फंक्शन कैसे बदलता है और उसका परिणाम क्या होता है, यह शरीर-विज्ञानी नहीं जानता। ये दोनों बातें जुड़ जाएं तो सामाजिक जीवन पद्धति बदल सकती है। अभी अधूरी-अधूरी बात चल रही है, इसलिए आज अपेक्षा है कि सामाजिक शिक्षा के साथ अध्यात्म की शिक्षा जुड़े और सामाजिक जीवन प्रणाली के साथ अध्यात्म की जीवन प्रणाली जुड़े। दोनों का योग हो जाए। दोनों का योग होने पर ही नई चेतना जाग सकती है, चेतना का रूपान्तरण हो सकता है।

चेतना के रूपान्तरण के बिना सामाजिक स्थितियां नहीं बदलतीं। हमारी चेतना जब बदलती है तब व्यवहार बदल जाता है। धर्म ने अहिंसा पर, अपरिग्रह पर बहुत बल दिया। इतना बल देने पर भी अहिंसा का विकास जितना होना चाहिए था, उतना नहीं हुआ। एक प्रश्न है, क्यों नहीं हुआ ?हजारों वर्षों की लम्बी परम्परा में इतना प्रयत्न करने पर भी ऐसा क्यों नहीं हुआ? कारण एक ही मालूम पड़ता है कि जीवन में अहिंसा उतरती है चेतना के बदल जाने पर, जीवन में अपरिग्रह उतरता है चेतना का रूपान्तरण हो जाने पर। चेतना तो मूल की स्थिति में है। जितना ममत्व चित्त में चाहिए पूरा ममत्व चित्त में विद्यमान है, जितनी आसक्ति चाहिए उतनी आसक्ति चेतना में विद्यमान है, जितनी संघर्षप्रियता, समस्या को संघर्ष के द्वारा सुलझाने की मनोवृत्ति चाहिए, वह चेतना में विद्यमान है और हम स्वप्न लेते हैं कि अपरिग्रह आए, अहिंसा आए। यह कैसे संभव होगा?

## चेतना के रूपान्तरण का परिणाम

अहिंसा चेतना के रूपान्तरण का परिणाम है। असंग्रह चेतना के बदल जाने का एक व्यक्त रूप है। जब तक यह परिवर्तन नहीं होता, अहिंसा और अपरिग्रह के

विकास की संभावना नहीं हो सकती।

जो व्यक्ति ध्यान करने वाला है, जिसकी चेतना बदली है, उसकी आस्था भी बदल जाएगी। आस्था का पहला आधार यह होगा कि मुझमें असीम शक्तियाँ हैं—यह विश्वास जागे। यह उसका सबसे पहला परिणाम होगा। यह कसौटी है—ध्यान का अभ्यास करने पर भी दुर्बलता नहीं मिटी तो मान लेना चाहिए—व्यक्ति ने ध्यान को नहीं पकड़ा, ध्यान ने व्यक्ति को नहीं पकड़ा। दोनों में संबंध जुड़ा नहीं। अपनी शक्तियों में विश्वास होना, यह पहली बात है।

दूसरी बात है, अपनी शक्तियों को जागृत करने में विश्वास होना। यह विश्वास होना कि मैं अपनी शक्तियों को जगा सकता हूँ। इसके लिए एक सरल प्रक्रिया अध्यात्म के आचार्यों ने प्रस्तुत की। कोई काम करना हो तो सबसे पहले दस मिनट के लिए इस पर ध्यान को केन्द्रित करो कि मुझमें असीम शक्तियाँ हैं। फिर दस मिनट अनुभव करो—मेरी शक्तियाँ जाग उठी हैं, सक्रिय हो उठी हैं। फिर दस मिनट में इस बात पर ध्यान केन्द्रित करो—मैं अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकता हूँ और मैं अपनी समस्या को सुलझा सकता हूँ। तीन चरण में प्रयोग होगा। समय आधा घंटे का लगेगा, किन्तु यदि कार्य में दस घंटे लगते हैं तो पांच घंटे में ही कार्य हो जाएगा। मन की दुर्बलता जहाँ प्रबल है वहाँ शक्य कार्य भी अशक्य बन जाता है। मन की प्रबलता आती है, असंभव काम भी सम्भव लगने लग जाता है। साधुवाद देना चाहिए आज के वैज्ञानिकों को, जो कहीं हार नहीं मानते, कहीं पराजित नहीं होते। अनेक पीढ़ियाँ खप गईं, पर वे आगे से आगे विकास करते जा रहे हैं, खोजते जा रहे हैं। जिस समस्या को लिया, छोड़ा नहीं उसको। तब तक उसका पीछा नहीं छोड़ा, जब तक कोई समाधान नहीं मिला। कितने लोग अपने प्राणों की आहुति दे देते हैं, पर समस्या से मुंह नहीं मोड़ते। ध्यान का बड़ा परिणाम है आस्था का बदलना, शक्ति पर भरोसा होना और शक्ति का प्रयोग करना।

सामाजिक जीवन में संघर्ष अनिवार्य है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि सामाजिक जीवन जीएँ और संघर्ष न हो। असंभव कल्पना है। निश्चित है, दो का होना और टकराना। दो होने का मतलब ही है टकराना। दो बर्तन भी टकरा जाते हैं, कभी-कभी अपने दो हाथ भी टकरा जाते हैं। आदमी कपड़ा धोता है, हाथ टकरा जाते हैं, नाखून चमड़ी छील देते हैं, लहलुहान हो जाते हैं। एक हाथ का नाखून दूसरे हाथ की चमड़ी को छील देता है, बेचारे नाखून का कोई दोष नहीं। दो का मतलब ही है टकराना। कभी सम्भव नहीं कि दो हों और न टकरायें। सामाजिक जीवन में संघर्ष अनिवार्य है।

## ध्यान के परिणाम : समाज के संदर्भ में

जीवन विज्ञान का प्रयोग करने वाले व्यक्ति की चेतना बदलती है, उसकी आस्था बदलती है, उसका आधार यह बनता है कि सद्भावना और सहमति के द्वारा समस्याएं सुलझाई जा सकती हैं। संघर्ष की बात मन से टल जाती है। वह सीधा यह नहीं सोचता कि ऐसा हो गया तो अब संघर्ष मोल लें। संघर्ष करना है और संघर्ष के सिवाय कोई उपाय नहीं। जरा-सी कुछ गड़बड़ हुई, गालियां बकें। थोड़ी-सी कोई स्थिति बनी, मारपीट करें या मार डालने की बात सोचें। यह एक रास्ता है। दूसरा रास्ता है समस्या को सुलझाने का-सद्भावना का विकास करना और सहमति का विकास करना। जीवन विज्ञान का प्रयोग करने वाला व्यक्ति सहमति और सद्भावना की चेतना को जगा लेता है इससे उसका पारिवारिक जीवन भी सुखी बन जाता है। जिन लोगों ने ध्यान के द्वारा अपनी चेतना को बदला, उनका पारिवारिक जीवन सुखी बन गया। जिनका घर नारकीय आवास था, उनका घर स्वर्ग बन गया। ऐसा तब घटित होता है जब सौहार्द, सद्भावना और सहमति की बात जागती है।

ध्यान का अभ्यास करने वाला व्यक्ति समाज को या किसी व्यक्ति को अपने गुलाम की भांति नहीं देखता, नौकर को नौकर और कर्मचारी की भांति नहीं देखता। उसकी दृष्टि बदल जाती है। अधिकांश कलह इसलिए होते हैं कि अहंकार को चोट पहुंचती है। पारिवारिक झगड़ों, कर्मचारियों के झगड़ों, अपने नौकरों के झगड़ों में मुख्य कारण मिलेगा दूसरों के अहंकार को चोट पहुंचाना। आदमी को इस बात में बहुत रस है। जितना रस रसगुल्ला खाने में नहीं है, उतना रस दूसरों के अहं को चोट पहुंचाने में है। जो दूसरे के अहंकार को चोट पहुंचा देता है, वह यह मान लेता है कि मैं बहुत बड़ा आदमी बन गया। अधिकांश लड़ाइयों के पीछे खोजा जाए तो पता लगेगा कि कोई बड़ी बात की लड़ाई नहीं है, कोई उद्देश्यपूर्ण लड़ाई नहीं है, कोई मुद्दा भी नहीं है। एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति के अहं पर चोट की और वह फुफकारने लग गया। सांप भी तब काटता है, जब उसके अहं को चोट लगती है, कोई उस पर पैर रख देता है। अन्यथा सीधा चला जाता है।

## सामाजिक समता की दृष्टि

अहंकार को चोट पहुंचाना एक मनोवृत्ति है तो दूसरी मनोवृत्ति है- समता और मैत्री का अनुभव करना। छोटे से छोटे व्यक्ति को, अपने नौकर और कर्मचारी को, एक मनुष्य की दृष्टि से देखना, चैतन्य की दृष्टि से अनुभव करना; यह है समता

की दृष्टि। इससे सारी समस्या सुलझ जाती है। आदमी में अवमानना और अवज्ञा का भाव बहुत प्रबल होता है। जाने-अनजाने वह व्यक्तियों की अवमानना कर देता है। इतिहास को देखें, पता चलेगा, राजा ने सत्ता के मद में एक छोटे से कर्मचारी की अवमानना कर दी, एक छोटे से नागरिक की अवमानना कर दी। उसका परिणाम यह हुआ कि सारी सत्ता को उलटना पड़ा और सम्राट को पदच्युत होना पड़ा।

चाणक्य कौन-सा बड़ा था ? कोई बड़ा नहीं था और यदि राजा के द्वारा उसकी अवमानना नहीं होती तो शायद इतना बड़ा युद्ध भी नहीं होता और नंदवंश का विच्छेद भी नहीं होता, किन्तु अवमानना हुई और उस अकेले व्यक्ति ने, ब्राह्मण ने संकल्प किया-जब तक नंदवंश का विच्छेद नहीं कर दूंगा, तब तक चोटी नहीं बंधेगी। चोटी खुली रहेगी।

हम सामाजिक घटनाओं से, समस्याओं से चिंतित होते हैं, सोचते हैं कि समाज में इस प्रकार की घटनाएं घटती हैं। पर इस बात पर ध्यान नहीं देते कि जो सोचते हैं, उनके मन में भी दूसरों को अपमानित करने की बात निकलती नहीं है। जहां भी वश चलता है, अपना आधिपत्य होता है, अपनी प्रभुता होती है, वहां इस प्रकार का एक गुलाबी नशा छा जाता है आदमी पर, उसे इस बात का भान ही नहीं होता कि मेरा व्यवहार दूसरों के प्रति कैसा हो रहा है।

### जीवनशैली में बदलाव

ध्यान करने वाले व्यक्ति का सारा व्यवहार बदल जाता है। उसे यह सोचना चाहिए कि उसका क्रोध कितना कम हुआ, व्यवहार कितना बदला, दूसरों को मूल्य देने की भावना कितनी जागी, दूसरों को अपने समान समझने और वैसा व्यवहार करने की वृत्ति कितनी विकसित हुई।

जिन लोगों ने ध्यान का अभ्यास किया, उनके बदले हुए जीवन के चित्र भी हमारे सामने प्रस्तुत हैं। हमारा कोरे भविष्य में विश्वास नहीं है। हमें वर्तमान में विश्वास, वर्तमान के परिणाम में विश्वास, प्रवृत्ति और परिणाम-दोनों की संयुक्तता में विश्वास है। ध्यान की धारणा ऐसी नहीं है कि अभ्यास करते जाएं, करते जाएं और एक बिंदु कोई आएगा कि बदल जाएगा। ध्यान की धारणा यह है कि आज शुरू करें तो लगना चाहिए कि भीतर में परिवर्तन शुरू हुआ है। भीतर की घटना कभी एक साथ बाहर नहीं आती। बीमारी भीतर में होती है, बाहर आने में महीने लग जाते हैं। कोई भी घटना, अच्छी या बुरी, भीतर में घटित होती है, बाहर आने में उसे काफी समय लगता है। दूसरों को पता चलने में समय लग जाए, कोई चिंता

की बात नहीं। पर स्वयं को लगे कि भीतर में बदलना शुरू हो गया है। यहां एक चरण पूरा हो जाता है।

यदि यह प्रक्रिया बराबर चलती रहेगी तो दुनिया को भी पता लगने लग जाएगा कि इस व्यक्ति ने साधना की है और यह बदल गया है। कुछ लोग तो साधना को इतना सशक्त बना लेते हैं कि एक बार में ही उनके बदलने का पता लग जाता है और इसी आधार पर यह प्रेरणा जागी है कि आदमी बदलता है और जल्दी उसका पता लग जाता है।

### शुद्ध साधनों के प्रति आस्था

आचार्य भिक्षु ने एक सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। दर्शन के क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण है वह सिद्धान्त। उस सिद्धांत की व्याख्या, पूरे दो हजार वर्ष के काल में, कुछेक आचार्यों ने ही की है। वह सिद्धांत है-साधन-शुद्धि का। साध्य शुद्ध होना चाहिए, साध्य अभिप्रेत होना चाहिए, इस पर तो बहुत चर्चा की गई, पर जहां साधन का प्रश्न था वहां यह मान लिया गया कि अच्छे साधन से साध्य सिद्ध हो तो अच्छी बात है और अच्छे साधन से न होता हो तो बुरे साधन से भी उसे सिद्ध किया जा सकता है, यह मान लिया गया था। आचार्य भिक्षु ने कहा-शुद्ध साध्य के लिए साधन का शुद्ध होना अनिवार्य शर्त है। जिस व्यक्ति में साधना फलवती होती है, जिसकी चेतना से दोष नष्ट हो जाते हैं और आंतरिक प्रकाश उद्दीप्त होता है, उस व्यक्ति के मन में सबसे पहला सूत्र यह होता है कि मुझे सुख को, शांति को पाना है। किंतु पाऊंगा समुचित साधन के द्वारा। गलत साधना के द्वारा न सुख पाना है और न शांति पानी है। आज ध्यान के साथ चलने वाली सारी नशे की प्रवृत्तियां, शून्यता लाने वाली औषधियां और भी गलत प्रयोगों से, गलत साधनों से फलित की जाने वाले शांति और सुख-सब समाप्त हो जाते हैं।

शांति को उपलब्ध होना है, सुख को उपलब्ध होना है किन्तु किसी गलत साधन का प्रयोग नहीं करना है, यह निश्चय, विश्वास आत्मा में जाग जाएगा।

### सामाजिक जीवन का आधार

सामाजिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण आधार है सत्य। सत्य विराट् और अनन्त है। अनन्त के विषय में कल्पना नहीं की जा सकती।

विज्ञान ने एक यंत्र बनाया है टेलिस्कोप। उस टेलिस्कोप से दो अरब प्रकाश वर्ष की दूरी पकड़ ली जाती है। दो अरब प्रकाश वर्ष कितनी दूरी का द्योतक है, कल्पना करना भी दुष्कर होता है। एक सेकेण्ड में एक लाख छियासी हजार मील



जीवन विज्ञान : सिद्धान्त और प्रयोग की गति। इस गति से एक घंटा, एक दिन-रात, एक मास, एक वर्ष। यह है एक प्रकाश-वर्ष की दूरी। ऐसे दो अरब प्रकाश-वर्ष। इस दूरी को वह टेलिस्कोप पकड़ लेता है। असंख्य नीहारिकाएं, असंख्य द्वीप और समुद्र। आदमी सोचता है तो दिमाग चकरा जाता है। पर यह है सत्य। अब हम सोचें, कितना विराट् है सत्य। सत्य के पांच प्रकार या पांच अर्थ हैं-

- |                   |                      |
|-------------------|----------------------|
| (१) अस्तित्व सत्य | (४) अविस्वादिता सत्य |
| (२) नियम सत्य     | (५) प्रामाणिकता सत्य |
| (३) ऋजुता सत्य    |                      |

## १. अस्तित्व सत्य

सत्य का एक अर्थ है-अस्तित्व अर्थात् जगत् का अस्तित्व। हमारा अस्तित्व-जगत् इतना बड़ा है कि उसके विषय में एक भाषा में कुछ कह पाना संभव नहीं है।

## २. नियम सत्य

सत्य का एक अर्थ है-नियम, जागतिक नियम, सार्वभौम नियम। समय का चक्र अविरल गति से घूम रहा है, यह जागतिक नियम है। दिन होना, रात होना और यह क्रम निरन्तर चलते रहना, यह तगत् का नियम है। गति, स्थिति और परिवर्तन- ये तीनों जागतिक नियम हैं।

अस्तित्व सत्य और जागतिक सत्य-ये दोनों सत्य समाज के साथ सीधे जुड़े हुए नहीं हैं। प्रत्यक्षतः इनसे समाज के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।

नियम-सत्य का दूसरा संदर्भ है-मनुष्यकृत नियम। वह भी एक सत्य है। मनुष्य नियम बनाता है। उसका पालन होता है और समाज के साथ उसका संबंध जुड़ा रहता है। चाहे धर्म-व्यवस्था के नियम हों या समाज-व्यवस्था के नियम हों, वे सत्य हैं। उन्हीं के आधार पर धर्म-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था का निर्णय होता है। एक धर्मगुरु अपने धर्म की आचार-संहिता, मर्यादा और परम्परा के आधार पर निर्णय देता है। एक न्यायाधीश कानून के संविधान के आधार पर निर्णय करता है और समाज-व्यवस्था का संचालक समाज-संहिता के आधार पर निर्णय देता है। बस यह सत्य है। इसमें सचाई है।

ये सारे नियम जागतिक या सार्वभौम नहीं हैं। ये सब कृतक हैं, मनुष्य द्वारा किए हुए हैं। ये सत्य हैं और इनसे समाज का सम्बन्ध जुड़ता है। इनसे सामाजिक

जीवन के साथ संबंध स्थापित होता है। इनसे समाज प्रभावित होता है।

नियमों का बहुत बड़ा जाल बिछा हुआ है। समय-समय पर नियम बनते रहते हैं। नये नियम बनते हैं, पुराने मिटते हैं और कुछ नियमों में परिवर्धन, परिशोधन होता है। नियमों का पालन भी होता है और उल्लंघन भी होता है। नियमों का अतिक्रमण असत्य या अन्याय माना जाता है।

## ऋजुता सत्य

सत्य का एक अर्थ है-ऋजुता। यह आध्यात्मिक सत्य है। ऋजुता का अर्थ है-सरलता। ऋजुता का अर्थ है-अमाया, अछलना, अप्रवंचना। माया असत्य है। छलना और प्रवंचना असत्य है। ऋजुता के तीन प्रकार हैं-मन की ऋजुता, वचन की ऋजुता और शरीर की ऋजुता। ये तीनों सत्य हैं। यह है मानसिक सत्य, वाचिक सत्य और कायिक सत्य। छिपाना असत्य है। आदमी छिपाता बहुत है। वह अपनी कमजोर और अप्रकटनीय स्थिति को छिपाता है। जो पाने की लालसा है उसे भी छिपाता है। इस प्रवृत्ति ने संदेह को जन्म ही नहीं दिया, उसे बढ़ाया भी है। ऋजुता में संदेह नहीं उभरता, अविश्वास पैदा नहीं होता। संदेह में शक्ति का अपव्यय होता है। संदेह के अभाव में आदमी पच्चीस प्रतिशत शक्ति बचा लेता है। यह शक्ति के अपव्यय का न्यूनतम अनुमान है। मायाचार से शक्ति बहुत खर्च होती है।

संदेह की कोई सीमा नहीं है। आदमी प्रत्येक प्रवृत्ति में संदेह कर लेता है संदेह के कारण अनेक कल्पनाएं और अनेक विचार उत्पन्न होते हैं और तब आदमी न जाने क्या-क्या नहीं करता।

संदेह के कारण शक्ति का अत्यधिक अपव्यय होता है। छिपाने की बात से संदेह उत्पन्न होता है। यदि संदेह और अविश्वास न हों तो अनेक दुर्घटनाएं और संघर्ष समाप्त हो सकते हैं। पारिवारिक और सामाजिक कलहों का मुख्य कारण संदेह होता है। संदेह के कारण बड़े-बड़े साम्राज्य नष्ट होते देखे गए हैं।

इस ऋजुतात्मक सत्य का अतिक्रमण करने के कारण समाज ने कितनी कालरात्रियां भोगी हैं, कितनी कठिनाइयों का सामना किया है ? ऋजुता में संदेह नहीं पनपता। संदेह नहीं होता है तो अनेक दुर्घटनाएं अपने आप टल जाती हैं। मनमुटाव का एक बड़ा कारण संदेह है, अऋजुता है।

छुपाव बुराइयों की जड़ है। कानून एक सत्य है, नियम एक सत्य है। पर बेचारा कानून या नियम क्या करे, जब समाज में छिपाने की अधिक प्रवृत्ति हो। छिपाव में प्रत्यक्षतः बुराई नहीं होती, बुराई भूमिगत होती है। राशन का नियम नहीं

है तो दुकानों में अनाज का भंडार भरा है। राशन का नियम आया और दुकानों से अनाज गायब। सब भूमिगत हो जाता है। यह सब छिपाव के कारण होता है। यह सब ऋजुता के अभाव में होता है।

प्रश्न होता है कि समाज में ऋजुता का विकास किया जा सकता है ? यदि समाज को यथार्थ के आधार पर चलना है, व्यवहार को मानवीय धरातल पर चलना है, उसे स्नेहपूर्ण और मृदुतापूर्ण बनाना है तो ऋजुता को प्रश्रय देना ही होगा और छलना, प्रवंचना, संदेह तथा अविश्वास के भूत को भगाना ही होगा। अन्यथा व्यक्ति-व्यक्ति के दुराव को हम मिटा नहीं पाएंगे। दो व्यक्ति पास-पास बैठे हैं, पर उनके मन की दूरी हजारों मील की है। दो व्यक्ति हजारों मील दूर हैं, पर उनका मन निकट है, समीप है। मन की दूरी का कारण है संदेह और छिपाना। मन की निकटता का कारण है ऋजुता और स्पष्टता।

प्रत्येक व्यक्ति में अऋजुता का भाव है। यह उसकी दुर्बलता है। वह इस कमजोरी के कारण स्वार्थ और मोहवश अनेक बुराइयों में फंसता है। उसकी यह कमजोरी छूटती नहीं क्योंकि छिपाव में उसका तीव्र रस है।

#### ४. अविशंवादिता सत्य

सत्य का एक अर्थ है-अविशंवादिता अर्थात् कथनी और करनी की समानता। सामाजिक जीवन के साथ इसका बहुत बड़ा सम्बन्ध है। इससे समाज प्रभावी बनता है।

जब तक व्यक्ति में राग-द्वेष है, प्रियता-अप्रियता का द्वन्द्व है, तब तक कथनी और करनी, ज्ञान और आचरण की दूरी मिट नहीं सकती। इनमें अविशंवादिता आ नहीं सकती। कथनी और करनी की विशंवादिता को मिटाना, ऊंचे शिखर पर आरोह करने जैसा कार्य है।

जैन परम्परा में वीतराग और अवीतराग की सात कसौटियां मान्य हैं। उनमें एक है विशंवादन। जिसमें विशंवादन होता है, कथनी और करनी में समानता नहीं होती, वह है अवीतराग और जिनमें कथनी और करनी की समानता होती है, अविशंवादन होती है, वह है वीतराग। राग-ग्रस्त व्यक्ति जैसा कहता है वैसा करता नहीं। यह उसका लक्षण है। पर मात्रा में तरतमता होती है। यह एक मान्य तथ्य है कि इस दूरी को, ज्ञान और आचरण की दूरी को पूर्णतः मिटाया नहीं जा सकता, पर कम किया जा सकता है।

राजनीति के क्षेत्र में वह दूरी चिन्ता का विषय नहीं है, क्योंकि वह क्षेत्र

कूटनीति का है और उसकी बुनियाद इसी दूरी पर आधृत है। सामाजिक क्षेत्र में यह दूरी कुछ समस्याएं पैदा करती है। वहां भी वह चलती है, पलती है। यह आश्चर्य की बात नहीं है। किन्तु आश्चर्य तब होता है जब आत्मा और चैतन्य के प्रति जागृत व्यक्ति भी उस दूरी को पालता है, बढ़ाता है। इसका स्पष्ट हेतु है कि व्यक्ति ने अहंकार और ममकार से भी अभी छुटकारा नहीं पाया है। ये दो हेतु उस दूरी के कारण हैं।

ममत्व विकट समस्याएं पैदा करता है। इसके कारण आदमी का सिद्धांत और आचरण अलग-थलग जा पड़ते हैं, कथनी और करनी की दूरी बढ़ जाती है। यह सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाली बहुत बड़ी समस्या है।

## ५. प्रामाणिकता सत्य

समाज का अर्थ है-व्यवहार। दस-बीस आदमियों का एकत्रित हो जाना ही समाज नहीं है। समाज का तात्पर्य होता है-लेनदेन, विनिमय, व्यवहार। समाज की यही परिभाषा है। हजार आदमी हों या हजार पशु हों वह समाज नहीं कहलाता। जहां परस्पर विनिमय होता है, व्यवहार होता है, वह समाज कहलाता है। संस्कृत में दो शब्द हैं-समाज और समज। जहां व्यवहार होता है वह समाज और जहां व्यवहार की कोई गुंजाइश ही नहीं होती, वह है समज। पशुओं का समाज नहीं होता। उनका समूह समज कहलाता है। आदमियों का समूह समाज कहलाता है, क्योंकि वहां विनिमय है।

आज के समाज की भयंकर समस्या है व्यवहार की अप्रामाणिकता। अनैतिकता, क्रूर और जटिल व्यवहार के कारण समाज में हजारों समस्याएं उत्पन्न हुई हैं। सामाजिक मूल्यों का विकास इसलिए नहीं हो रहा है कि आदमी में प्रामाणिकता नहीं है। एक समय था, जब भारतवासी प्रामाणिकता में बढ़े-चढ़े थे। उस समय यहां घी-दूध की नदियां बहती थीं। चोरी, डकैती का नामोनिशान नहीं था। बड़े से बड़ा राज्याधिकारी प्रामाणिकता से कार्य करता था। महामात्य चाणक्य मगध साम्राज्य का सर्वेसर्वा था। जब वह राज्य कार्य करता तब राज्य का दीपक जलाता और जब वह अपना व्यक्तिगत कार्य करता तब अपने घर का दीया जलाता। कितनी प्रामाणिकता! आज भी कुछेक राज्याधिकारी ऐसे हैं जो सरकारी काम में सरकार की मोटर का उपयोग करते हैं और अपने व्यक्तिगत या पारिवारिक कार्य में व्यक्तिगत मोटर का अथवा बस आदि का उपयोग करते हैं। यह है प्रामाणिक व्यवहार।

प्रामाणिक व्यवहार जीवन का आधार है। इससे व्यक्तित्व निखरता है।

जीवन-विज्ञान की शिक्षा पद्धति में विद्यार्थी को प्रामाणिक जीवन जीने की कला सिखाई जाती है। यदि सत्य के ये पाँचों अर्थ विद्यार्थी के जीवन में समाविष्ट होते हैं तो वह विद्यार्थी राष्ट्र का उन्नत नागरिक बन सकता है और उसका व्यक्तित्व समाज के लिए दीप-स्तंभ बन सकता है।

### अभ्यास

१. जीवन विज्ञान के प्रयोगों से परिवार और समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है : स्पष्ट करें।
२. सामाजिक जीवन पद्धति को बदलने के लिए सामाजिक शिक्षा के साथ प्रेक्षाध्यान के प्रयोग क्यों जरूरी हैं ?
३. जीवन विज्ञान की पद्धति वैज्ञानिक कैसे है ? स्पष्ट करें।
४. सत्य के पाँच प्रकार कौन से हैं ? उनमें कितने प्रकार सामाजिक जीवन से जुड़े हुए हैं ?

**खण्ड-ब**

**जीवन विज्ञान : शिक्षा का नया आयाम**



## शिक्षा का नया आयाम : जीवन विज्ञान

### सामाजिकता का आधार : परस्परता

हम स्वावलम्बन की बात करते हैं, किन्तु वास्तव में हमारा परस्परावलम्बन है, जिसे हम कभी विस्मृत नहीं कर सकते। आदमी प्रातःकाल घूमने निकलता है। वृक्ष कुछ वायु छोड़ते हैं। वह आदमी के लिए प्राणवायु बन जाती है। आदमी प्राणवायु को भीतर ग्रहण करता है और निःश्वास के रूप में कार्बनडाइऑक्साइड का विसर्जन करता है। वृक्ष उसे ग्रहण करता है। वह वृक्ष को प्राण देने वाला बन जाता है। यह परस्परता है। केवल आदमी, आदमी में ही परस्परता नहीं है किन्तु प्रत्येक प्राणी के साथ हमारी परस्परता। एक प्राणी दूसरे से जुड़ा हुआ है। जो मनुष्य के लिए अनुपयोगी बन गया, वह वनस्पति जगत् के लिए उपयोगी बन गया और जो वनस्पति जगत् के लिए अनुपयोगी बन गया, वह मनुष्य के लिए उपयोगी बन गया। सारी सृष्टि में एक संतुलन बना हुआ है। सब एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इन्हें पृथक् या विश्लेषित नहीं किया जा सकता। परस्परता से सब कुछ जुड़ा हुआ है। एक के लिए उपयोगी, दूसरे के लिए अनुपयोगी। एक के लिए अनुपयोगी, दूसरे के लिए उपयोगी।

### सामाजिकता का शत्रु : स्वार्थ

शिक्षा का एक कार्य है-परस्परता की चेतना का विकास। यही है समाजीकरण के विकास का महत्त्वपूर्ण सूत्र। आज स्वार्थ बहुत बढ़ा है, परमार्थ कम हुआ है। इसका कारण है कि आज की प्रचलित शिक्षा में परमार्थ की चेतना को उजागर करने वाले तत्त्व कम हैं और स्वार्थ-चेतना के तत्त्व अधिक हैं। आदमी की चेतना परमार्थ तक जाती ही नहीं, वह स्वार्थ तक ही सीमित रह जाती है। व्यक्ति वैयक्तिक स्वार्थ साधना चाहता है। यही समूचे संसार में हो रहा है। जिस समाज के व्यक्ति ने अपने वैयक्तिक स्वार्थ पर ध्यान अधिक दिया, वह समाज सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक-सभी दृष्टियों से पिछड़ गया। यदि एक अध्यापक छात्र पर पूरा ध्यान देता है तो छात्र का विकास होता है। यदि अध्यापक अपने स्वार्थ पर ध्यान



देता है, स्व-केन्द्र और स्वार्थ-केन्द्रित रहता है तो उसके स्वार्थ के कारण पूरे समाज को नुकसान होता है और वह स्वयं भी उस नुकसान से बच नहीं सकता।

आचार्य भिक्षु ने इस तथ्य को समझाने के लिए एक महत्वपूर्ण दृष्टांत दिया। चार ब्राह्मणों को एक गाय दान में मिली। चारों का गाय में समुचित भाग था। चारों ने सोचा, इसका बंटवारा कैसे किया जाय ? सोचा, उपाय निकाला। यह तय हुआ कि एक-एक दिन प्रत्येक व्यक्ति गाय को दुहे और दूध का उपभोग करे। पहले दिन जिसकी बारी थी उसने दूध दुहा और सोचा, मैं इस गाय को क्यों दाना-पानी दूँ। मेरे पास तो यह कल रहेगी नहीं। कल जिसकी बारी है वह इसे दाना-पानी देगा।

अगले दिन वाले ने भी दूध दुह लिया और दाना-पानी देने के समय उसी प्रकार सोचा, जैसे पहले व्यक्ति ने सोचा था। चारों ने गाय का दूध दुहा पर उसे चारा-पानी नहीं दिया। धीरे-धीरे गाय दुबली हो गयी, दूध सूख गया। गाय के मरने की स्थिति आ गई।

### परस्परता की श्रृंखला

जिस समाज में ऐसा चिंतन होता है कि दूध दुहा जाय, पर खिलाया-पिलाया न जाए, वह समाज विघटित हो जाता है, यह स्वार्थ-परायणता है। इस स्वार्थ का परमार्थीकरण परस्परता के सिद्धान्त पर किया जा सकता है। एक-दूसरे को काट कर कोई भी आदमी जी नहीं सकता। एक व्यक्ति दूसरे कितने व्यक्तियों से जुड़ा होता है-कपड़ा बुनने वाला भी चाहिए, कपड़े सीने वाला और धोने वाला भी चाहिए, मोटरकार चलाने के लिए तेल भी चाहिए, बीमार के लिए दवाई और डाक्टर भी चाहिए, दवाई बनाने वाला और बेचने वाला भी चाहिए। परस्परता की बहुत लंबी श्रृंखला है। आदमी एक दूसरे से इतने जुड़े हुए हैं कि उनका विस्तार सीमा पार गया है। इस स्थिति में जो व्यक्ति केवल अपनी ही बात सोचता है, अपना ही स्वार्थ देखता है, दूसरों की ओर से आंखें मूंद लेता है, ऐसा अज्ञान के कारण होता है, इसमें शिक्षा भी कारण बनती है। क्योंकि उसने परस्परता की चेतना को जगाया नहीं।

### दूसरा घटक : संवेदनशीलता

सामाजीकरण का दूसरा घटक है-संवेदनशीलता का विकास। जब तक यह सूत्र नहीं जुड़ता, तब तक सही अर्थ में समाज बनता ही नहीं। संवेदनशीलता का अर्थ है- एक दूसरे के कष्ट में सहभागिता की अनुभूति। जब यह समाज में आती है तब नैतिकता और प्रामाणिकता का विकास होता है और क्रूरता कम होती है।

संवेदनशीलता का सूत्र जब टूट जाता है तब क्रूरता, अप्रामाणिकता, अनैतिकता, मिलावट आदि बुराइयां बढ़ती हैं। जब आदमी संवेदनशील नहीं होता तब वह दूसरों को कष्ट देने में संकोच नहीं करता। जिस व्यक्ति में यह भावना होती है कि दूसरों को कष्ट देने का अर्थ है स्वयं को कष्ट देना, वह आदमी कभी बुराई नहीं कर सकता, धोखा नहीं दे सकता, क्रूर व्यवहार नहीं कर सकता। जब यह चेतना सिकुड़ जाती है, तब कोई भी क्रूर कर्म करने में हिचकिचाहट नहीं होती।

संवेदनशीलता है-एक दूसरे के साथ एकात्मकता का व्यवहार करना, तादात्म्य की अनुभूति के लिए व्यक्तित्व का परिष्कार करना। इसके लिए प्रयत्न करना होता है।

### जीवन विज्ञान : परिष्कार की प्रक्रिया

संवेग वैयक्तिक तत्त्व है। इसका परिष्कार करना बहुत जरूरी है। संवेग के परिष्कार का अर्थ है निषेधात्मक भावों का परिष्कार। क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, घृणा- ये सब निषेधात्मक भाव हैं। विधायक भावों का जितना विकास होगा, उतना ही संवेदनशीलता का सूत्र आगे बढ़ेगा।

आनुवंशिकता का परिष्कार भी संवेदन-परिष्कार के द्वारा किया जा सकता है। आनुवंशिकता का प्रभाव व्यक्ति के चरित्र, नैतिकता और मानसिकता पर ज्यादा होता है।

नैतिकता आनुवंशिकता से प्रभावित होती है। संवेग-परिष्कार के द्वारा इसका भी परिष्कार किया जा सकता है। प्रश्न होता है कि संवेगों का परिष्कार कैसे किया जाए? बहुत कठिन समस्या है। मनोविज्ञान ने संवेगों की विस्तृत व्याख्या की है और व्यक्ति संवेगों से कितना प्रभावित होता है, यह भी विस्तार से बताया है। किंतु संवेगों का परिष्कार कैसे किया जाए- इसकी व्याख्या मनोविज्ञान की अपेक्षा अध्यात्म, धर्म और योग में अधिक उपलब्ध है। किन्तु कठिनाई यह है कि आज की शिक्षा में अध्यात्म, धर्म और योग को अनावश्यक माना गया है। आवश्यक नहीं मानने का कारण है-धर्म की ज्योति संप्रदाय की राख से इतनी ढँक गई है कि उसके अस्तित्व का भी बोध होना दुर्लभ हो गया है। साम्प्रदायिकता के कारण अध्यात्म के मूल तत्त्व नीचे दब जाते हैं। संप्रदाय को इतना महत्त्व मिल गया कि अध्यात्म की शुद्ध धारा विलुप्त हो गई। उसे पकड़ पाना भी कठिन हो गया। यह बहुत बड़ी समस्या है। इसका समाधान सूत्र है-संवेग को संतुलित, व्यवस्थित और परिष्कृत करना। जीवन विज्ञान इन्हें परिष्कृत करने की परिष्कृत प्रक्रिया है।

## परिष्कार के तत्त्व

भारत के ऋषि-मुनियों, आचार्यों और साधकों ने अतीत में ऐसे तत्त्वों को खोजा था, जिनके द्वारा संवेगों को परिष्कृत किया जा सके। यह बात केवल ग्रन्थों के आधार पर नहीं, किंतु आज हम अनुभव के आधार पर भी कह सकते हैं। हमने प्रयोग किये, अनुभव आया कि ऐसा परिवर्तन निश्चित रूप से आ सकता है। संवेग बदलते हैं, उनका परिष्कार होता है, संवेदनशीलता विकसित होती है। अध्यात्म के क्षेत्र में ऐसी घटनाओं का प्रचुर उल्लेख है। सभी धर्म-सम्प्रदायों में ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिनकी संवेदनशीलता अपूर्व थी।

जिसमें संवेदनशीलता का विकास होता है, उसके मन में किसी प्रकार का छलावा नहीं होता। जब संवेदनशीलता जाग जाती है, तब समाज को सुधरने में समय नहीं लगता। नैतिकता, प्रामाणिकता और चरित्र-विकास सहज होने लगता है।

जब तक भारत में संवेदनशीलता की प्रखरता थी, तब तक उसका चित्र बहुत सुन्दर था। बाहर से आने वाले यात्रियों ने भारत का चित्र प्रस्तुत करते हुए लिखा था-भारत में घरों के ताले नहीं लगते। दरवाजे खुले रहते हैं। किसी को यदि चरित्र का शिक्षण लेना हो तो वह भारत आए और यहाँ से वह शिक्षा प्राप्त करे। ऐसा चित्र संवेदनशीलता के विकास से ही सम्भव है। जैसे-जैसे संवेदनशीलता कम हुई, वैसे-वैसे संवेग प्रबल हुए और सारी अनैतिकता बढ़ी।

शिक्षा जगत् का बहुत बड़ा काम है-संवेदनशीलता को विकसित करना।

## मूल तत्त्व की विस्मृति

आज के विद्यालयों की विशाल योजनाएं हैं। उसमें भाषा, साहित्य, कला, विज्ञान, इतिहास, भूगोल-ये सारे विषय सिखाए जाते हैं, पर इनके साथ भावों के परिष्कार की बात नहीं है। इसे आवश्यक भी नहीं माना गया है। आज आवश्यक माना जाता है भाषा, साहित्य, कला आदि का अध्ययन; जिससे अच्छी जीविका कमाई जा सके, बौद्धिक स्तर ऊंचा उठ सके, दूसरे राष्ट्रों के साथ अच्छा सम्पर्क स्थापित किया जा सके। व्यवसाय और सम्पर्क का विकास किया जा सकता है किन्तु मूल में जो चरित्र की कमी है, वह अन्य सब चीजों को खोखला बना डालती है। जब चरित्र नहीं होता तब नींव कमजोर हो जाती है।

शिक्षाशास्त्रियों और शिक्षानीति का निर्धारण करने वालों ने अनेक योजनाएं बनाईं, अनेक प्रारूप तैयार किए, पर किसी में भी चरित्र-विकास की योजना

सन्निहित नहीं की, संवेग-नियन्त्रण की योजना सम्मिलित नहीं की। इसका मतलब यह हुआ कि हमारी नींव कमजोर रह गई और उस कमजोर नींव पर बढ़िया मकान बन गया। पर वह मकान कभी भी धराशायी हो सकता है।

### स्वामित्व का समाजीकरण

समाज में स्वामित्व भी अपेक्षित तत्त्व है। भूमि का स्वामित्व होता है, संपदा का स्वामित्व होता है, अन्यान्य पदार्थों का भी स्वामित्व होता है। स्वामित्व होना आवश्यक तत्त्व है। किन्तु जब उस स्वामित्व की सीमा नहीं होती तो वह समाज के लिए खतरनाक बन जाता है। स्वामित्व की सीमा होनी चाहिए, परिष्कार होना चाहिए। शिक्षा के द्वारा स्वामित्व का समाजीकरण होना चाहिए। आज की जितनी आर्थिक समस्याएं हैं, वे स्वामित्व की समस्याएं हैं। भारत का यह प्राचीन सूत्र है- सम्पत्ति सामाजिक होती है, वैयक्तिक नहीं। मार्क्स ने कोई नई बात नहीं कही। उनका भी सूत्र रहा- सम्पदा सामाजिक होती है। भारत के आचार्यों ने जो एक बात कही, वह मार्क्स भी नहीं कह पाया। भागवत का एक श्लोक है:

यावद् भ्रियेत जठरं, तावत् युक्तं हि देहिनाम् ।  
योऽधिकं चाभिमन्येत, स स्तेनो वधमर्हति ॥

जितने से पेट भरा जा सके, उस पर स्वामित्व करना ही विहित है। जो इससे अधिक संग्रह करता है, वह चोर है, वध्य है।

### स्वामित्व का सीमा बोध

आज का सारा झगड़ा स्वामित्व की परिधि में चल रहा है। शिक्षा का एक काम है कि उसके द्वारा स्वामित्व की सीमा की चेतना जागृत हो। आज के आदमी का संस्कार तो यह है कि मैं खाऊं, बेटा पोता भी खाए, इतना ही नहीं, सात पीढ़ियां भी उसका उपभोग करें। संस्कार तो सात पीढ़ियों का है और सरकार चाहती है कि स्वामित्व की उचित सीमा हो। इस स्थिति में आदमी संस्कार की बात मानेगा या सरकार की बात मानेगा ? जब तक संस्कार नहीं बदलता, तब तक दो नंबर के खातों को और काले धन को नहीं रोका जा सकता ।

एक राजनेता ने कहा-काला धन मिटना चाहिए। सचाई यह है, धन नहीं, मन होता है काला और मनुष्य का काला मन मिटना चाहिए। काले मन को मिटाए बिना काले धन को मिटाने की बात नहीं सोची जा सकती। जब तक मन काला है तब तक धन काला आता रहेगा, जाता रहेगा। उसे कोई कानून नहीं मिटा सकता। कानून के

सामने आते ही प्रत्यक्षतः चलने वाली बुराई भूमिगत होकर चलने लगती है, बुराई सामने न हो- यह है कानून का परामर्श। कानून को आपत्ति होती है जब बुराई प्रकट में होती है, पकड़ में आती है। भूमिगत कुछ भी करें, कानून को कोई आपत्ति नहीं होती। किसी ने बुराई की, अपराध किया, गवाह नहीं मिला, तो वह अपराध से छूट जाएगा। कानून वहाँ पंगु बन जाता है। बुराई तभी मिट सकती है जब मन का कालापन मिटता है। मन के कालेपन को मिटाना शिक्षा का काम है।

### भोग-उपभोग की सीमा

भगवान् महावीर ने श्रावक के लिए आचार-संहिता दी। उसका एक व्रत है-भोगोपभोग व्रत। इसका अर्थ है, भोग की सीमा करना। संपत्ति कितनी ही हो सकती है, पर वैयक्तिक भोग की सीमा वांछनीय है।

विश्व के धनाढ्य व्यक्ति रोकफेलर की बेटी लंदन गई। वह बाजार में कुछ खरीदना चाहती थी। अनेक फोटोग्राफर साथ में हो गए। वह एक जूते की दूकान पर गई। चप्पल देखी। उनका मूल्य अधिक था। उसने कहा- मैं खरीद नहीं सकती, मूल्य अधिक है। पत्रकार साथ में था। उसने पूछा-‘आप तो अरबपति की लाइली हैं, फिर पैसे की बात क्यों करती हैं ? रोकफेलर का संस्थान लाखों-करोड़ों का दान करता है। इस स्थिति में आपकी बात समझ में नहीं आती।’ वह बोली-‘मैं एक अरबपति की लड़की हूँ। व्यापार में करोड़ों रुपये लग सकते हैं, पर हमारा व्यक्तिगत बजट बहुत कम है। हम अपने व्यक्तिगत उपभोग के लिए अधिक खर्च नहीं कर सकते।’

इस घटना के संदर्भ में भगवान् महावीर द्वारा निर्धारित श्रावक-संहिता के इस व्रत को समझें-भोग-उपभोग की सीमा। भगवान् महावीर का अनन्य श्रावक था आनन्द, करोड़ों-करोड़ों का स्वामी। अपार संपदा, विस्तृत व्यवसाय, कौटुम्बिक-कुटुम्ब का अधिपति। पर उसका व्यक्तिगत जीवन अत्यन्त सीधा और सादगीपूर्ण था। स्वयं के रहन-सहन और खान-पान पर बहुत सीमित व्यय होता था।

संपदा के सीमाकरण की चेतना को जगाना शिक्षा का महत्त्वपूर्ण कार्य है।

### स्वतंत्रता की सीमा

स्वतंत्रता की चेतना भी शिक्षा के द्वारा जगाई जाती है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं कि उस स्वतंत्रता के आधार पर व्यक्ति जो कुछ चाहे, सो कर सके। समाज में जीने वाला व्यक्ति पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं हो सकता। परतंत्रता भी उसके

साथ जुड़ी रहती है। जहां एक से दो होते हैं, वहां परतंत्रता आ जाती है। समाज में सापेक्ष स्वतंत्रता हो सकती है। यह परतंत्रतायुक्त स्वतंत्रता है। जो व्यक्ति अहंकार के वशीभूत होकर यहां पूर्ण स्वतंत्रता का अर्थ खोजने लग जाता है, वह कठिनाई पैदा करता है।

स्वतंत्रता की सीमा को समझना आवश्यक है। समाजीकरण का मूल आधार है-संवेगों का परिष्कार। यद्यपि संवेग वैयक्तिक होते हैं, फिर भी वे समाज को प्रभावित करते हैं। एक लड़के का गुस्सा पूरे परिवार को विघटित कर देता है। पिता का अहं और क्रोध पूरे राष्ट्र को विनाश के कगार पर ला खड़ा करता है। महामात्य चाणक्य ने लिखा है- जो नेता अपने संवेगों पर नियन्त्रण नहीं रख सकता, वह पूरे राष्ट्र को ले डूबता है। इसलिए यह आवश्यक है कि संवेगों का परिष्कार किया जाए। शिक्षा को इसका माध्यम बनाना चाहिए।

### कोरी बौद्धिक शिक्षा के परिणाम

बौद्धिकता शिक्षा का एक अंग है, पर वह पूरा नहीं है। बौद्धिक विकास के साथ-साथ समाज के प्रति अपने दायित्व का बोध, मानवीय मूल्यों का विकास तथा व्यक्तिगत चरित्र का विकास भी आवश्यक है। कोरी बौद्धिकता से आदमी ज्यादा खतरनाक भी बन सकता है। आजकल बहुत सारे पढ़े-लिखे लोग चोरी-डकैती में भी अपनी बौद्धिकता का उपयोग करते हैं, बल्कि अबौद्धिकों की अपेक्षा वे अपने धन्धे को ज्यादा दक्षता से चला सकते हैं। आज यही सबसे बड़ी समस्या है। समाज तथा शासन-तंत्र में बौद्धिक व्यक्तियों की भरमार है, पर केवल बौद्धिकता से काम नहीं चल सकता। उसके साथ-साथ चरित्र का भी विकास होना चाहिए। दोनों मिलकर ही पूर्ण व्यक्तित्व की रचना करते हैं।

### जीवन विज्ञान : समन्वित शिक्षा पद्धति

आज तक शिक्षा का आधार मस्तिष्क का विकास रहा है, पर अब यह सिद्ध हो चुका है कि ग्रन्थि-तंत्र ही हमारे सारे व्यवहारों का निदेशक है। मस्तिष्कीय ज्ञान की उपेक्षा नहीं की जा सकती, पर उसके साथ साथ ग्रन्थि-तंत्र के विकास के प्रयोगों को भी जोड़ना होगा। ये दोनों एक दूसरे के पूरक होंगे।

जीवन-विज्ञान में योग, कर्मशास्त्र और धर्मशास्त्र-इन तीनों का प्रशिक्षण जुड़ा हुआ है। आज की शिक्षा में फिजियोलोजी, एनोटोमी और साइकैलोजी का विशेष महत्त्व है। ये छह विषय मिलकर सम्पूर्ण और समन्वित जीवन-निर्माण करते हैं।

हम चाहते हैं कि छात्रों में एकाग्रता, इच्छाशक्ति तथा संकल्प का विकास हो। इसके लिए विशेष प्रयत्न किए जाने चाहिए। क्या कारण है कि सत्तर करोड़ की आबादी वाले भारत को खेलों में स्वर्ण-पदक तो क्या रजत-पदक भी नहीं मिल पाते, और कोरिया जैसे छोटे-छोटे देश भी अनेकों स्वर्ण-पदक झटक लेते हैं। स्पष्ट है, हमारे यहां एकाग्रता, संकल्प तथा इच्छा-शक्ति का अभाव है। जब तक इनका विकास नहीं हो जाता तब तक देश आगे नहीं बढ़ सकता।

आज शिक्षा में फिजिकल और मेंटल विकास की तो शिक्षा दी जाती है पर इमोशनल विकास की बात नहीं की जाती, जबकि तीनों में सबसे मूल्यवान यही है! इसीलिए तो मूल में भूल हो रही है। जीवन विज्ञान इसी भूल को सुधारने का प्रयत्न है।

हमारा यह उद्देश्य नहीं है कि धर्म-ग्रंथों के उदाहरण न लें। पर हम उन्हें पर्याप्त नहीं मानते। वे प्रेरक तो बन सकते हैं, पर बदलाव के वाहक नहीं बन सकते और आज तो प्रश्न ही यह है कि जीवन में बदलाव कैसे आये ? जब तक हारमोन व सिक्रेसन को नहीं बदला जाएगा तब तक सारा विकास अधूरा व एकांगी रहेगा। हमारा ध्यान इस ओर क्यों नहीं जाता कि आंतरिक बदलाव के बिना सारे प्रयत्नों का केवल क्षणिक प्रभाव ही हो सकता है।

धर्म-शास्त्रों में जो समाधान दिए गए हैं, वे एक परिस्थिति से जुड़े हुए हैं। वे समाधान ही एकमात्र समाधान नहीं हो सकते। इसका मतलब यह नहीं है कि शास्त्रों के समाधान गलत हैं, पर समस्याएं यदि आज की हैं तो उनके समाधान भी इसी संदर्भ में खोजे जाने चाहिए। आज पदार्थ-विज्ञान, मनोविज्ञान, शरीर-विज्ञान जिस तरीके से विकसित हो गये, उनसे भी समस्याओं के समाधान मिल सकते हैं। जहां तक धर्म-शास्त्रों से समाधान मिलें, मिल जाएं, पर धर्म-ग्रन्थ के नाम पर आधुनिक उपलब्धियों से परहेज नहीं किया जाए, यह जीवन विज्ञान का स्पष्ट मत है।

## जीवन विज्ञान : जीवन से जुड़ी शिक्षा

अज्ञान और मूर्च्छा दो भिन्न तत्त्व हैं। अज्ञान से केवल इतना ही होता है कि व्यक्ति को ज्ञान नहीं होता, पर मूर्च्छा से व्यक्ति का व्यवहार और चरित्र भी प्रभावित होता है। आज शिक्षा का सारा आयोजन मनुष्य के अज्ञान को गिराने का, उसे आंकड़ों का ज्ञान करा देने मात्र का है, पर मूर्च्छा को हटाने का कोई उपाय नहीं है। ऐसी शिक्षा से मनुष्य में अनुशासन नहीं आ सकता! इसके लिए द्विआयामी बनाना

पड़ेगा और ये दोनों आयाम परस्पर पूरक होंगे।

नैतिक शिक्षण को अलग विषय के रूप में थोपा जाना चाहिए। वह पाठ्यक्रम का ही एक अंग होना चाहिए। प्रायोगिक प्रशिक्षण के लिए शिविर-पद्धति का उपयोग किया जा सकता है। प्रायोगिक प्रशिक्षण में निर्माण होता है उतना थियोरिटिकल शिक्षा से नहीं हो सकता।

### जीवन विज्ञान : कमी की सम्पूर्ति

हम यह मानते हैं कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली ने अनेक अच्छे-अच्छे व्यक्तित्व दिये हैं। साइकोलोजी, टेक्नोलोजी, इन्जीनियरिंग आदि के क्षेत्र में अनेक विशेषज्ञ सामने आए हैं। आज जितनी कुशलता प्रकट हुई है उतनी शताब्दियों में नहीं हुई। इस दृष्टि से शिक्षा को दोषपूर्ण नहीं माना जा सकता, पर इसमें एक कमी है। वह है जीवन-विज्ञान की शिक्षा का अभाव। यदि इसे शिक्षा के साथ जोड़ा जाए तो शिक्षा-प्रणाली सब दृष्टियों से पूरी हो जायेगी।

शिक्षा में व्याप्त असन्तोष को मिटाने के लिए व्यक्तिगत धरातल पर चेतना को जगाने के कुछ उपक्रम किये जाएं। आज शिक्षा वस्तुनिष्ठ बन रही है, उसे स्वनिष्ठ बनाया जाए। दूसरे शब्दों में, चरित्रनिष्ठ बनाया जाये।

जिन देशों ने आंतरिक समस्याओं पर ध्यान दिया वहां कार्य-दक्षता में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। इस दक्षता के पीछे कोरी पुस्तकीय शिक्षा ही नहीं रही है, ध्यान का भी महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। जापान में जैन-संप्रदाय के नाम से ध्यान का एक संप्रदाय चलता है। वहां केवल छात्रों को ही नहीं, सैनिकों को भी ध्यान का प्रशिक्षण दिया जाता है। इसीलिए हमारे यहां जो कार्य छह घण्टे में किया जाता है, वह वहां तीन घण्टे में हो जाता है। यह शिक्षा का प्रायोगिक रूप है। यह सिद्ध हो चुका है कि पीनियल, थायरॉइड, पिच्यूटरी आदि ग्रन्थियां मनुष्य के चरित्र को प्रभावित करती हैं। दस-बारह वर्ष तक के बच्चों की पीनियल ग्रन्थि बहुत सक्रिय होती है। इसी से उनके जीवन में पवित्रता रहती है ज्यों-ज्यों वे बड़े होते हैं, उनकी यह ग्रन्थि निष्क्रिय होती जाती है। यदि प्रायोगिक स्तर पर उस ग्रंथि को सक्रिय बनाया जा सके तो उन्हें बहुत पवित्र, अनुशासित रखा जा सकता है। इसके लिये आवश्यक है कि छात्रों को न केवल शरीर-शास्त्र का अध्ययन ही कराया जाये, अपितु उनके ऐसे साप्ताहिक शिविर लगाये जाएं, जिनमें उनकी ग्रंथियों को सक्रिय करने के लिए प्रायोगिक स्तर पर काम किया जा सके। इससे एक नयी पीढ़ी का निर्माण होगा। सब लोग चाहते हैं, अनुशासनहीनता न हो। पर बिना प्रयोगों के



केवल उपदेश या प्रशिक्षण के द्वारा उसे नहीं मिटाया जा सकेगा। हम यह नहीं कहते कि बौद्धिकता का विकास न हो, पर साथ ही साथ उस पर नियन्त्रण करने के लिए अन्तःस्त्रावी ग्रन्थियों को जगाना पड़ेगा। उन पर ध्यान देकर ही अपराधी वृत्तियों पर अंकुश लगाया जा सकता है। छोटे बच्चे सहयोग करते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ है कि अभी तक उनका बौद्धिक विकास नहीं हुआ है। जब भी बौद्धिक विकास हो जाता है, वे आपका सहयोग नहीं करते। इसीलिए तो केवल बौद्धिक विकास खतरनाक है।

आज हमारे सामने चुनाव का सवाल है एक और बौद्धिक विकास करने वाली शिक्षा है, दूसरी ओर धर्म-शास्त्रों की शिक्षा है। केवल बौद्धिक शिक्षा या केवल धर्म-शास्त्रों की शिक्षा बड़ा परिवर्तन नहीं कर सकेगी, किन्तु वह धर्म भी हमारा बहुत अधिक मार्ग-दर्शन नहीं करेगा, जो विज्ञान की कसौटी पर नहीं कसा जा सके। आज विज्ञान ने हमारे सामने जो बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत की है, उसकी छाया में धर्म-शास्त्रों की शिक्षाओं तथा पुस्तकीय शिक्षाओं का प्रायोगिक रूप में उपयोग किया जा सके तो हम नयी पीढ़ी का निर्माण कर सकेंगे, सर्वांगपूर्ण स्वस्थ व्यक्तियों का निर्माण कर सकेंगे।

हम अपनी जीवन की धारा को दो तटों के बीच चला रहे हैं। एक है समस्या का तट और दूसरा है अपेक्षा का तट। अनेक समस्याएं हैं, जैसे- हिंसा, तनाव, मानसिकता, अनैतिकता, मिथ्यादृष्टिकोण आदि। इनमें सबसे बड़ी समस्या है-मिथ्यादृष्टिकोण।

### आवश्यकता है आंख की

मनुष्य का एक मिथ्यादृष्टिकोण बन गया-समस्या का समाधान हिंसा में है। वह हिंसा को चुनता है। उसने हिंसा को ऐसा हथियार बना लिया है कि कहीं पर भी उसका उपयोग किया जा सकता है। हिंसा सर्वत्र व्याप्त है। प्रत्येक क्षेत्र, फिर चाहे वह राज्य का हो, राजनीति का हो या शिक्षा का, हिंसा का बोलबाला है। आज अहिंसा की अपेक्षा है। पर प्रश्न होता है कि वह आए कैसे ? इसके लिए आवश्यकता है दृष्टिकोण को बदलने की, चक्षुष्मान् बनने की। आज आंख की परम आवश्यकता है। अन्यान्य वस्तुएं मिल सकती हैं पर आंख का मिलना, दृष्टि का मिलना अत्यन्त कठिन है। आजकल आंख का प्रत्यारोपण होने लगा है, चक्षुदान भी प्रचलित है। इसीलिए आंख मिलने लगी है। आदमी को चक्षुष्मान् बनाने की प्रक्रिया शुरू हुई है।

हिंसा, अनैतिकता आदि सारी समस्याएं भी मिथ्यादृष्टिकोण के कारण उभर

रही हैं। यदि दृष्टिकोण बदल जाए तो समस्याओं का समाधान भी प्राप्त हो जाए।  
जीवन-विज्ञान की प्रक्रिया की मूल फलश्रुति है-दृष्टिकोण का परिवर्तन।

### शिक्षा जगत् को दिशा दर्शन

दृष्टिकोण बदल सकता है, यह हमारी आस्था है। जीवन-विज्ञान ने इस आस्था को जगाया है। यह आस्था भी दृढ़मूल हुई है कि आदत, स्वभाव और व्यवहार में भी परिवर्तन आ सकता है। प्राचीन आचार्यों ने प्रत्येक वृत्ति को बदलने के लिए भिन्न-भिन्न उपाय निर्दिष्ट किए हैं। वे एकत्रित नहीं हैं, इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। खोजने वालों को वे प्राप्त होते हैं। क्रोध, अहंकार, भय आदि आवेगों को बदलने के लिए अनेक प्रयोग हैं। अनेक व्यक्तियों ने वे प्रयोग किए, परिणाम अच्छे आए और वे प्रयोग उन-उन वृत्तियों के परिस्कार के लिए निर्दिष्ट हो गए।

जीवन-विज्ञान शिक्षा की पूरक कार्य-पद्धति है। मूल्यपरक शिक्षा को यह पूरी करती है। शिक्षा में जो भावात्मक परिवर्तन तथा चरित्र-निर्माण का पक्ष गौण है, उसकी यह पूर्ति करती है। यह अभिमत पुस्तकों के आधार पर नहीं बना है, किन्तु अनुभव के आधार पर बना है। अनुभव बुद्धि से परे होता है।

अनुभव के जाग जाने पर अनैतिकता का जगत् नहीं बचता। आज सारे लोग यही चाहते हैं कि अनुभव सोया ही रहे, बुद्धि जागती रहे। सारा भार बुद्धि पर लादा हुआ है।

आज जितने अनपढ़ मूर्ख हैं, उनसे अधिक हैं पढ़े-लिखे मूर्ख। आवश्यकता है कि तराजू के दोनों पलड़ों में समान वजन रखा जाए। बुद्धि और अनुभव का सन्तुलन होना आवश्यक है। अनुभव को जगाना अत्यन्त जरूरी है। जीवन विज्ञान इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है।

### अभ्यास

१. आज की शिक्षा प्रणाली में मस्तिष्कीय विकास की प्रचुर संभावनाओं के होते हुए भी जीवन विज्ञान शिक्षा की क्यों अपेक्षा हुई ?
२. हिंसा की बढ़ती हुई समस्या को मिटाने के लिए दृष्टिकोण को बदलना भी क्या आवश्यक है ?
३. सामाजिक विकास के लिए स्वामित्व की सीमा और भोगोपभोग की सीमा क्यों जरूरी है ?

## शिक्षा और भावात्मक परिवर्तन

‘कला कला के लिए’- इस पर कला के क्षेत्र में पर्याप्त चर्चाएं हुई हैं। शिक्षा के क्षेत्र में भी इस विषय पर चर्चा हुई है और होनी भी चाहिए। ‘ज्ञान ज्ञान के लिए’ है तो फिर पढ़ाई की परिसम्पन्ता विद्यालय में ही हो जाएगी। वहां से निकलने के बाद उसकी कोई उपयोगिता नहीं रहेगी। ‘ज्ञान ज्ञान के लिए’ ही नहीं, किन्तु परिवर्तन और विकास के लिए भी होना चाहिए। पहले जानना है। जानने के बाद फिर बदलना है, नया निर्माण करना है। यदि विकास और नव-निर्माण की प्रक्रिया ज्ञान के साथ जुड़ी हुई न हो तो ज्ञान बहुत सीमित रह जाएगा। नया निर्माण और विकास करने के लिए ज्ञान का क्षेत्र बहुत व्यापक हो जाता है।

जानो और करो। दोनों को कभी विभक्त नहीं किया जा सकता। ज्ञान और प्रयोग को अलग से नहीं देखा जा सकता। हमारी प्रक्रिया में ज्ञानात्मक प्रयोग और प्रयोगात्मक प्रयोग-दोनों जुड़े हुए हैं। दोनों को अलग देखने से हमारा दृष्टिकोण एकांगी बन जाएगा। हमें जगत् को जानना है और बदलना है। व्यक्ति बदले, समाज बदले- यह हमारा बहुउद्देशीय घोष है। ये दोनों ही बदलने चाहिए। बदलने की प्रक्रिया पर हम विचार करें।

### १. दैहिक विकास

जब शिशु तीन-चार वर्ष का होता है तब शिक्षा का सम्बन्ध जुड़ जाता है उसके विकास का भी क्रम है। वह पहले चलना सीखता है, बोलना सीखता है। उसमें शारीरिक प्रवृत्तियों का विकास होता है। वह खाना भी सीख लेता है। इसमें शिक्षा की आवश्यकता नहीं रहती। ‘शिक्षा’ शब्द भिन्न है। ‘सीखना’ शब्द भिन्न है। बच्चा मां से, भाई से, बहिन से सीखता है। यह शिक्षा का कार्य नहीं है। वह देखता है, अनुकरण करता है और सीखता जाता है। शिक्षा का विशेष अर्थ हो गया कि जहां संगठित एवं समन्वित रूप से सीखा जाता है, वह है शिक्षा। पर बच्चा पहले चरण में अनुकरण से सीखता है और शारीरिक प्रवृत्तियों का विकास करता है। दूसरे चरण में वह इन्द्रियों का विकास करता है। वह इन्द्रियों का उपयोग करना जान लेता है।

## २. इन्द्रिय विकास

इन्द्रियों के विकास में दो स्थितियां बनती हैं-प्रियता का भाव और अप्रियता का भाव। वह प्रिय-अप्रिय का बोध करने लगता है। वह चीनी खाना पसन्द करता है, नीम का पत्ता खाना नहीं चाहता। चीनी मीठी होती है, नीम कडुवा होता है। उसमें प्रिय-अप्रिय का संबोध स्पष्ट हो जाता है। इन्द्रिय विकास के साथ संवेदन और संवेग का प्रिय और अप्रिय के साथ संबंध हो जाता है।

## ३. मानसिक विकास

बच्चा और आगे बढ़ता है। उसमें अच्छा-बुरा का बोध स्पष्ट होता जाता है। वह जानने लगता है, चीनी प्रिय होती है, पर अच्छी नहीं होती। उससे दांत खराब होते हैं, आंत खराब होती हैं, हड्डियां कमजोर हो जाती हैं। नीम का पत्ता कडुवा होता है, पर स्वास्थ्यप्रद होता है। बच्चे का मानसिक विकास होता है और ये सारी बातें जानने लग जाता है।

इन तीनों-दैहिक विकास, इन्द्रिय विकास और मानसिक विकास- में अनुकरण, वातावरण और परिवेश से सीख लिया जाता है तथा कुछ सुनी सुनाई बातों से सीख लिया जाता है।

## ४. बौद्धिक विकास

बच्चा स्कूल में जाता है तब वहां उसे पाठ्यक्रम दिया जाता है। उसे लिपि, भाषा, साहित्य आदि का ज्ञान कराया जाता है उससे उसका बौद्धिक विकास होता है और उसमें विश्लेषण की शक्ति आती है। मानसिक विकास से अच्छे-बुरे का ज्ञान तथा संवेदन आदि की जानकारी होती है। बौद्धिक विकास से विश्लेषण, नीति-निर्धारण आदि की शक्तियां जागती हैं। बुद्धि का काम है-व्यवहार का निश्चय करना, विवेक करना। बौद्धिक विकास के साथ बच्चे की क्षमता बहुत बढ़ जाती है।

विद्यालय का जीवन बौद्धिक विकास का जीवन है। पहले तीन विकासों में विद्यालय का कोई संबंध नहीं रहता। वर्तमान में शिक्षा बौद्धिक विकास के साथ जुड़ी हुई है। बौद्धिक विकास में रूपान्तरण की क्षमता कम है। उसमें निर्णय और निश्चय की क्षमता है, विवेक करने की क्षमता है, पर परिवर्तन की क्षमता नहीं है।

बुद्धि का काम है बात को तर्क में उलझाना, न कि सुलझाना। यह उसकी स्वाभाविक प्रक्रिया है। जो जितनी सीमा में काम कर सकता है वह उतनी ही सीमा

में काम करेगा। बुद्धि की अपनी सीमा है। परिवर्तन उसकी सीमा के अन्तर्गत नहीं है।

आर्थिक व्यवस्था को बदलना सामाजिक प्रक्रिया के साथ जुड़ा हुआ है। आज की अर्थ-व्यवस्था वह बदलेगा, जिसके हाथ में अर्थनीति का नियंत्रण हो। आदमी को नियंत्रण का पालन करना है। कैसे करेगा? बुद्धि के द्वारा बात आई और मस्तिष्क में पैठ गई, किंतु वह बदलने के तत्त्व के पास पहुंची ही नहीं। इसलिए अर्थ-व्यवस्था बदली नहीं। इसका मूल कारण है--लोभ। लोभ एक संवेग है, इमोशन है, वह बदलने में बाधा उपस्थित करता है। आदमी में इतना लोभ है कि वह अपने स्वार्थ को सिद्ध करना चाहता है और नियंत्रण, नियमन और कानून को नीचे रख देना चाहता है। यहां बदलने की बात आती है बुद्धि के स्तर पर। बुद्धि को बदलना नहीं है। बदलना है संवेग को, लोभ को, भावना को, पर आदमी उसकी बात को स्वीकार ही नहीं कर रहा है। दोनों का संघर्ष है और इसी के आधार पर कथनी और करनी की दूरी बराबर बनी की बनी रहती है।

कथनी और करनी में दूरी एक समस्या है। यदि बौद्धिक विकास के साथ इस समस्या का समाधान होता तो आज के बौद्धिक वर्ग वैज्ञानिक, इंजीनियर, वकील आदि की कथनी और करनी समान होती, किंतु देखा जाता है कि उनमें भी कथनी-करनी की अपार दूरी है। उनका बुद्धि का स्तर बहुत विकसित हो गया, पर भावना के स्तर पर उन्हें बालक ही कहा जाएगा। जो बहुत बड़ा शब्दशास्त्री बन गया, पर यदि उसने लिंगानुशासन नहीं पढ़ा है तो वह बच्चा ही है। इसी प्रकार आदमी ने कितना ही बौद्धिक विकास कर लिया, किन्तु वह संवेद और संवेग के लिंगानुशासन से अनजान है तो वह बालक ही है। संवेद और संवेग के नियंत्रण को जाने बिना उसका ज्ञान व्यर्थ है। जब तक यह नियंत्रण की क्षमता उसमें विकसित नहीं होती तब तक कथनी और करनी की दूरी, ज्ञान और आचरण की दूरी को कभी नहीं मिटा सकते। शिक्षा का काम है इसमें समन्वय और सामंजस्य स्थापित करना। ज्ञान और आचरण के समन्वय का अर्थ है बौद्धिक एवं भावात्मक विकास में समन्वय। यह होने पर कथनी और करनी की समस्या का समाधान हो सकता है।

साम्यवादी प्रणाली में व्यक्तिगत नियंत्रण पर बहुत ध्यान दिया गया। पर आदमी बदला नहीं। जब तक हमारा ध्यान संवेगों के नियंत्रण और अनुशासन पर केन्द्रित नहीं होगा, तब तक समाज में परिवर्तन लाने की बात नहीं आएगी। साम्यवादी शिक्षा प्रणाली में यह माना गया कि ज्ञान केवल जानने के लिए, विश्व का पुनर्निर्माण करने के लिए और समाज को बदलने के लिए है। किंतु शिक्षा के

द्वारा यह नहीं हो रहा है। इसका तात्पर्य है कि शिक्षा में कहीं न कहीं त्रुटि है और वह त्रुटि यह है कि शिक्षा में भावात्मक विकास की बात छूट गई है।

व्यक्ति इन्द्रिय और बुद्धि के स्तर पर नहीं चलता। वह चलता है-भाव के स्तर पर। आदमी जो कुछ कर रहा है, उसका संचालन भीतर हो रहा है। अर्जुन ने कृष्ण से पूछा-भगवान्! आदमी पाप करता है। उसका प्रेरक कौन है? कृष्ण ने कहा- आदमी को पाप में प्रेरित करता है काम और क्रोध। ये निषेधात्मक भाव हैं।

हम बुद्धि के स्तर पर समस्या को सुलझाना चाहते हैं। इसमें कोई संगति नहीं है। दर्शन के बारे में कहा गया- वह जानने की प्रक्रिया है, बदलने की प्रक्रिया नहीं है। यह सचाई नहीं है। जैन साहित्य में शिक्षा का जो प्रारूप मिलता है, उसमें दो शब्द व्यवहृत हुए हैं-ग्रहण शिक्षा और आसेवन शिक्षा। शिक्षा ग्रहण करो और उसका प्रयोग करो। शिक्षा के साथ अभ्यास जुड़ा हुआ है। आज अभ्यास छूट गया, संवेग पर नियंत्रण की बात छूट गई और अतिरिक्त भार बौद्धिक विकास पर आ गया।

#### ५. भावात्मक विकास

आज अपेक्षा है कि शिक्षा के साथ भावात्मक विकास का क्रम जुड़े। इसके बिना हम जिस समाज की परिकल्पना करते हैं, वह कभी संभव नहीं है। बौद्धिक और आर्थिक विकास के साथ-साथ अपराध, हिंसा, आक्रामक-वृत्ति, आवेग, पारिवारिक कलह आदि बढ़ रहे हैं। ऐसा क्यों हो रहा है? शिक्षा के द्वारा इन सब वृत्तियों में कमी आनी चाहिए। पर आज ऐसा नहीं हो रहा है। आज के विकसित राष्ट्रों में अपराधों की बढ़-सी आ रही है। पागलपन बढ़ रहे हैं। जहाँ शत-प्रतिशत लोग शिक्षित हैं, वहाँ भी ऐसा हो रहा है। आश्चर्य इस बात का है कि भारत की शिक्षा-प्रणाली भी बुद्धि तक सीमित है। यह बात हमने पहले ही समझ ली थी, लेकिन हम उसको नकारते चले जा रहे हैं, समस्या को स्वयं पैदा कर रहे हैं। जब तक भाव-जगत् में शिक्षा का प्रवेश नहीं होगा तब तक शिक्षा के द्वारा समाज को बदलने की संभावना नहीं की जा सकती।

हम बाह्य को जानना ज्यादा पसंद करते हैं। हमें तो कठपुतली ही दिखाई देती है जो बोलती है, नाचती है, गाती है, खेलती है। उसको जो पर्दे के पीछे से संचालित कर रहा है, उस ओर ध्यान ही नहीं जाता। हमारे जीवन का संचालन भाव करते हैं, जो पर्दे के पीछे हैं। उनकी ओर हमारा ध्यान नहीं है। जब तक शिक्षा के

साथ भाव-जगत् का सम्बन्ध नहीं जुड़ेगा तब तक न उपद्रव मिटेंगे, न हड़तालें समाप्त होंगी और न अनुशासन आएगा। हम बुद्धि के शस्त्र को तेज करते जा रहे हैं। उसका काम है काटना। नंगी तलवार बहुत खतरनाक होती है। उसके लिए म्यान चाहिए। म्यान में पड़ी तलवार खतरनाक नहीं होती। बुद्धि को हमने नंगी तलवार तो बना डाला है। अब उस पर म्यान का खोल डालना आवश्यक है, जिससे कि सीधा खतरा न हो। यह है भाव-जगत् की प्रक्रिया।

भावात्मक विकास का एक पहलू है-नैतिक विकास। इसके दो रूप हैं-सामाजिक नैतिकता और वैयक्तिक नैतिकता। एक समाज या संस्था कुछ नियम, उप-नियम बनाती है। वह ध्यान नहीं रखती कि व्यक्ति की वासना वृत्तियां, संवेग कैसे हैं ? विचार किए बिना वह नियम बना देती है। यह सामाजिक नैतिकता और अनुशासन है। साम्यवादी देश का एक नैतिक सूत्र बन गया है कि व्यक्तिगत स्वामित्व न हो। उसमें व्यक्तिगत वृत्तियों, वासनाओं और संवेगों का ध्यान नहीं रखा गया। आखिर व्यक्ति व्यक्ति होता है। उसमें वासना है, लोभ की वृत्ति है। उसकी उपेक्षा कर व्यक्तिगत स्वामित्व का नियंत्रण कर दिया। उसका परिणाम यह हुआ कि वह आर्थिक दौड़ में पिछड़ गया। इसमें व्यक्तिगत स्वार्थ अधिक हो जाता है, पुरुषार्थ कम हो जाता है। फलतः आर्थिक पिछड़ापन आ जाता है।

वैयक्तिक नैतिकता का अर्थ है-व्यक्तिगत संवेगों और वृत्तियों पर नियन्त्रण करना।

शिक्षा के साथ दोनों प्रकार की नैतिकताओं का सम्बन्ध होता है। विद्यार्थी समाज में जीता है। उसे सामाजिक प्राणी बनना है। उसको समाज के नियमों को मानना है, राष्ट्र के नियमों का भी पालन करना है, क्योंकि वह राष्ट्र में रहता है। यदि शिक्षा के द्वारा उसकी यह मानसिकता नहीं बनती है तो वह अच्छा विद्यार्थी नहीं बन सकता। इससे भी अधिक जरूरी है संवेगों पर नियन्त्रण करना। यह नैतिकता का महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। यह शिक्षा के साथ जुड़े।

शिक्षा के साथ मानसिक शक्ति के विकास की बात भी जुड़ी होनी चाहिए। इस शक्ति का विकास जिस राष्ट्र, समाज या व्यक्ति में नहीं होता वह कमजोर हो जाता है। आज के व्यक्ति में मनोबल का विकास और भावात्मक विकास-दोनों न्यून हैं। शिक्षाशास्त्री इनके विकास के लिए नई-नई पद्धतियां प्रस्तुत कर रहे हैं। आज अपेक्षा है कि सामाजिक परिवेश बदले और वर्ग-संघर्ष, वैमनस्य आदि समस्याओं का समाधान हो। इसके लिए भावात्मक विकास अपेक्षित है।

## जरूरी है उपायज्ञ होना

प्रत्येक व्यक्ति विकास चाहता है। विकास का अर्थ है-परिवर्तन, जो है उससे आगे बढ़ना। विकास के लिए कुछ उपाय चाहिए। उपाय के बिना विकास नहीं होता। जो उपाय को प्राप्त हो जाता है वह लक्ष्य तक पहुंच जाता है। जो निरूपाय होता है, वह जहां का तहां बैठा रह जाता है। अतः सत्य की खोज के लिए सबसे बड़ा साधन है उपाय की खोज। आचार्य और शिक्षक वह होता है जो उपायज्ञ होता है, उपाय को जानता है। सबसे महत्त्व की बात है-आलंबन की खोज। यह एक उपाय है। बदलने के लिए आलंबन आवश्यक होता है।

## अनासक्ति का प्रयोग

विश्व साहित्य में सूक्तों का बहुत महत्त्व रहा है। अनेक सूक्त अनेक व्यक्तियों के लिए आलंबन बने और उनके सहारे अनेक लोगों का काया-पलट हो गया। एक-एक शब्द ने, एक-एक वाक्य ने, एक-एक श्लोक ने जीवन को बदल दिया। सूक्तों का प्रयोग बहुत प्राचीनकाल से हो रहा है। भरत चक्रवर्ती रोज आलंबन का प्रयोग करते थे। वे अनासक्त थे। चक्रवर्ती हो और अनासक्त रहे, यह बहुत बड़ी बात थी। पर आलंबन के सहारे यह बात भी घटित हो गई। वे राज्य करते, पर राज्य उनको छू नहीं पाया। यही कारण था कि वे महल में बैठे-बैठे केवली बन गए। उनका एक आलंबन-सूत्र था। जब मंगलपाठक उन्हें प्रातः जागृत करते तब वे कहते-‘वर्धते भयं, वर्धते भयं’- भय बढ़ रहा है, भय बढ़ रहा है। इसका तात्पर्यार्थ था कि राज्य बहुत बड़ी आसक्ति है। आसक्ति भय का कारण बनती है। इस एक सूक्त के आधार पर भरत चक्रवर्ती अनासक्त बने रहे।

## अभ्यास से बनते हैं संस्कार

आलंबनों का बहुत महत्त्व होता है। विद्यालयों में अनेक आलंबन सूत्र लिखे जाते हैं। पर आलंबन भी अभ्यास के बिना इतने उपयोगी नहीं होते।

आलंबन का अगला चरण है-अभ्यास।

अभ्यास का अर्थ है, पुनरावृत्ति, बार-बार करना। इसी अभ्यास से क्षमता का विकास होता है, शक्ति बढ़ती है।

अभ्यास के द्वारा ही संस्कार का निर्माण होता है। आचरण, व्यवहार और शब्द को बार-बार दोहराने से यह संस्कार बन जाता है। अभ्यास के बिना संस्कार का निर्माण नहीं होता।



मन बहुत चंचल है। इसको कैसे एकाग्र किया जाए ? उपाय की खोज की-श्वास चंचलता को कम करने का अच्छा उपाय है। श्वास चंचलता पैदा करता है, सक्रियता लाता है। चंचलता को कम करना है तो श्वास की गति को कम करना होगा। श्वास की गति जितनी तेज होगी उतनी ही मात्रा में चंचलता बढ़ेगी। यह उपाय मिल गया। इसका बार-बार अभ्यास किया जाए।

अभ्यास का अर्थ है-सन्निधि, निकटता, पास में रहना। उस क्रिया का अभ्यास ऐसा हो जाए कि क्रिया और करने वाला तदात्म हो जाए, एक हो जाए।

### अभ्यास परिपक्वता के लिए तीन तत्त्व

अभ्यास को परिपक्व करने के लिए तीन तत्त्व अपेक्षित हैं- दीर्घकालिकता, निरंतरता और सत्कार-सेविता। अभ्यास को दीर्घकाल तक करते रहना चाहिए। दो-चार दिन करने से वह अभ्यास परिपक्व नहीं होता। दूसरी बात है कि अभ्यास निरंतर चलना चाहिए। दो दिन अभ्यास किया, चार दिन छोड़ दिया, फिर दस दिन किया, फिर बीस दिन छोड़ दिया- ऐसा करने से अभ्यास फलदायी नहीं होता। ठीक फ्रीक्वेंसी के बिना उसमें शक्ति नहीं आती। इसके लिए निरंतरता अपेक्षित होती है। तीसरी बात है-सत्कार-सेविता। जो अभ्यास करना है उसके प्रति पूर्ण सत्कार-भाव होना चाहिए, श्रद्धा होनी चाहिए। श्रद्धापूर्वक किया जाने वाला अभ्यास सही होगा और फलदायी होगा।

वृत्तियों और भावों के परिवर्तन के लिए जो उपाय या आलम्बन खोजे गये हैं, उनमें लक्ष्य तक पहुंचाने की क्षमता है। आलम्बन कभी लक्ष्य तक नहीं पहुंचता। वह माध्यम बनता है। पहुंचता है व्यक्ति। वह आलम्बन का समुचित सेवन करता है और पहुंच जाता है। यह सब व्यक्ति पर निर्भर करता है इसलिए उपाय और आलम्बन से भी अधिक शक्तिशाली साधन बन सकता है अभ्यास। हम अच्छे-अच्छे सिद्धान्तों को जानते हैं, पर जब तक इन सिद्धान्तों का अभ्यास नहीं होता तब तक ये सिद्धान्त बहुत कारगर नहीं होते।

### संकल्प परिपक्वता के लिए आलम्बन

अनेक लोग अहिंसा में विश्वास करते हैं। वे अहिंसा का संकल्प लेते हैं। अहिंसा का संकल्प लेना एक बात है और अहिंसा को सिद्ध करना दूसरी बात है। संकल्प कर लिया कि मैं अहिंसक रहूंगा, हिंसा नहीं करूंगा। इतने मात्र से हिंसा रुक नहीं जाती, अहिंसा पक नहीं जाती। अहिंसा को पकने के लिए बहुत अभ्यास अपेक्षित होता है। बिना तेज आंच के कुछ पकता नहीं। अहिंसा के संकल्प को

परिपक्व करने के लिए दो सिद्धान्त हैं-

१. सब जीव समान हैं।

२. हम सब एक हैं।

इनके लिए दो आलम्बन-सूत्र हैं-

'तुमसि नाम सच्चैव, जं हंतव्यं ति मन्नसि' - वह तू ही है, जिसे तू मारना चाहता है।'

'सव्वभूयप्पभूयस्स'-इसका तात्पर्य है, हम सब एक हैं।

इन आलंबन-सूत्रों का निरंतर अभ्यास किया जाए, इनको बार-बार दोहराया जाए, चिन्तन और मनन किया जाए तो यह बात अनुभूति में उतरने लगती है। यदि कोई व्यक्ति एक वर्ष तक ऐसा करे तो उसका संकल्प पकने की स्थिति में आता है। आदमी संकल्प ले लेता है, पर उसे पकाता नहीं। पकाने के लिए तेज आंच चाहिए। वह तेज आंच है-अभ्यास, पुनरावृत्ति। इसके द्वारा शब्द से चलते-चलते आदमी अनुभूति तक पहुंच जाता है। चलता है शब्द से, पहुंच जाता है अनुभूति पर।

### यात्रा अनुभूति के स्तर तक

आलम्बन शब्दात्मक हो सकते हैं, पर हम शब्द पर नहीं अटकेंगे। उसके माध्यम से अध्ययन करेंगे और चिंतन-मनन करते-करते अनुभूति तक चले जायेंगे। अनुभूति के स्तर पर जो घटित होता है। वह हमारी परिवर्तन की भूमिका है। वहीं आदमी बदलता है। एक बार जिसको गहरे में अनुभव हो गया वह आदमी अवश्य बदलेगा। जो बात केवल रीजनिंग माइंड तक जाती है, कोन्शियस माइन्ड तक पहुंचती है वह बात अधिक स्थिर नहीं रह पाती। जो बात अनकोन्शियस माइन्ड तक पहुंच जाती है, वह छूटती नहीं, वह पकड़ ली जाती है। अभ्यास का अर्थ ही है कि आलंबन के सहारे चलते-चलते वहां तक पहुंच जाना। वहां पहुंचने के बाद आलम्बन छूट जाता है, शब्द छूट जाता है, केवल अर्थ बच जाता है, यह है शब्द से अर्थ तक की यात्रा।

हमारी चेतना के दो स्तर हैं। एक है ज्ञान का स्तर और दूसरा है अनुभूति का स्तर। ज्ञान के स्तर पर आदमी जान लेता है। अनुभूति के स्तर पर आदमी बदलता है। जब तक आदमी ज्ञान के स्तर पर रहता है तब तक उसका आचार-व्यवहार बदलता नहीं। वह कितना ही पढ़-लिख जाए, आचार से वह शून्य रहेगा, क्योंकि उसमें अनुभूति नहीं है। यह अनुभूति की चेतना बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह बुद्धि से आगे की चेतना है, इसको जगाना ही अभ्यास का काम है।

## रूपान्तरण की प्रक्रिया के तीन घटक

रूपान्तरण की प्रक्रिया के तीन घटक हैं-

१. उपाय की खोज।
२. आलंबन
३. अभ्यास

किसान यह चिन्ता नहीं करता कि बीज बो रहा हूँ, उगेगा या नहीं ? यदि साधन-सामग्री पूरी है तो बीज अवश्य उगेगा। उगने का पूरा क्रम मिलता है तो वह उग जाता है और नहीं मिलता है तो वह नहीं उगता। सत्य का नियम सार्वभौमिक होता है। यह युनिवर्सल लॉ है। इसमें कोई अन्तर नहीं आता। उपाय, आलंबन और अभ्यास- ये तीनों जहां होते हैं, वहां परिवर्तन निश्चित है। इस प्रक्रिया से आदमी स्वयं ढल सकता है और दूसरों को ढाल सकता है। उपाय की खोज स्व-बुद्धि से भी हो सकती है और दूसरों के सहयोग से भी हो सकती है।

ईश्वर आलंबन नहीं है, वह मंजिल है। ईश्वर आदर्श है और आलंबन है-भक्ति। हमें ईश्वर तक पहुंचना है। उसका माध्यम बनता है भक्ति। ईश्वर आलंबन नहीं बनता, वह तो लक्ष्य है, जहां हमें पहुंचना है। आलंबन लक्ष्य नहीं बनता और लक्ष्य आलंबन नहीं बनता।

हम आलंबन का महत्त्व समझें और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में उसका सही उपयोग करें।

## अभ्यास

१. बुद्धि के स्तर पर हिताहित का बोध कराकर क्या व्यक्ति को बदला नहीं जा सकता?
२. सामाजिक नियंत्रण और अनुशासन क्या व्यक्ति को बदलने के लिए पर्याप्त नहीं है?
३. अभ्यास को परिपक्व बनाने के क्या उपाय हो सकते हैं ?

## शिक्षा और नैतिकता

समाज के साथ नैतिकता का प्रश्न अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है। यदि समाज में परस्परता और नैतिकता न हो तो समाज भयंकर समाज बन जाता है। जिस समाज में एक दूसरे के प्रति अच्छा व्यवहार होता है, वह कल्याणकारी समाज बन जाता है, सबका स्वप्न है कि कल्याणकारी समाज का निर्माण हो। पर नैतिकता के बिना यह संभव नहीं है। नैतिकता का प्रश्न अपने आप में बहुत जटिल है। इसकी अनेक दार्शनिक चर्चाएं हुई हैं, आचार-संहिताएं बनी हैं और अनेक परिभाषाएं हुई हैं।

### नैतिकता के आधार

कांट ने नैतिकता के तीन आधार माने हैं-

१. निरपेक्ष मूल्यों में आस्था
२. मरणोपरान्त जीवन में आस्था
३. ईश्वरीय आस्था

नैतिकता का सापेक्ष मूल्य नहीं है। उसका निरपेक्ष मूल्य है। कांट ने इसका विस्तार से प्रतिपादन किया है। मरणोपरान्त जीवन में आस्था होती है तो नैतिकता को बल मिलता है। जब आदमी जान लेता है कि मरने के बाद भी जीवन रहता है, किए हुए कर्मों का फल भुगतना होता है, तो जीवन में नैतिकता अंकुरित होती है।

ईश्वरीय आस्था भी बहुत मूल्यवान् है। जिसकी ऐसी सत्ता में आस्था हो, जो परमसत्ता एवं विशुद्ध हो, वहां से नैतिकता फलित होती है।

नैतिकता का दूसरा क्रम राष्ट्र के साथ जुड़ा हुआ है। जब व्यक्ति में राष्ट्र के प्रति गहरा आकर्षण पैदा हो जाता है तब वह राष्ट्र के प्रतिकूल कोई आचरण करना नहीं चाहता। उस स्थिति में नैतिकता विकसित होती है।

### नैतिकता के स्रोत

शिक्षा के क्षेत्र में भी नैतिकता की काफी चर्चा होती है। प्रत्येक व्यक्ति में निरपेक्ष मूल्यों की आस्था पैदा की जा सके, ईश्वर में आस्था पैदा की जा सके, यह अपेक्षित है। पर विभिन्न प्रकार के लोग होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म का

मोह नहीं छोड़ता। धार्मिक आस्थाएं अलग-अलग होती हैं। वहां ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती कि ईश्वरीय सत्ता में आस्था पैदा हो। इसलिए शिक्षा के साथ नैतिकता का विचार-विमर्श करते समय हमें एक दूसरा आधार खोजना होगा। वह आधार है-शारीरिक अनुशासन। जीवन-विज्ञान के क्षेत्र में दूसरे सारे संदर्भों और परिभाषाओं से हटकर नैतिकता को शरीर के साथ जोड़ा है। वह नैतिकता का बहुत बड़ा हेतु बन सकता है। यह स्पष्ट है कि नैतिकता का एक ही स्नात या कारण नहीं माना जा सकता। अलग-अलग कारण हो सकते हैं, किन्तु शारीरिक अनुशासन बहुत बड़ा कारण है। हम नैतिकता की एक उपायात्मक पद्धति को काम में नहीं ले सकते। घटना का घटित होना और उपाय खोजा जाना- ये दो बातें हैं। उपाय पर विचार नहीं किया जा सकता।

### परिवर्तन के हेतु

बहुत प्राचीन काल में परिवर्तन की प्रक्रिया पर चिंतन चला तो दो समाधान सामने आए अध्यात्म के क्षेत्र में-वैराग्य और अभ्यास, निसर्ग और अभ्यास। ये व्यवहार के क्षेत्र में भी घटित हो सकते हैं।

आदमी कैसे बदल सकता है ? मन को एकाग्र कैसे किया जा सकता है ? चित्तवृत्तियों को कैसे बदला जा सकता है ? आंतरिक विकास कैसे हो सकता है ? इसके दो उपाय निर्दिष्ट हैं-वैराग्य और अभ्यास, निसर्ग और अभ्यास। उमास्वाति के आधार पर दो उपाय हैं-निसर्ग और अधिगम। निसर्ग और वैराग्य वाली बात आनुपातिक दृष्टि से बहुत कम होती है। बहुत कम व्यक्ति वैराग्य को प्राप्त होते हैं और बहुत कम व्यक्ति निसर्गतः कुछ प्राप्त कर सकते हैं, उपलब्धियां प्राप्त होती हैं। हमारे विचार-विमर्श का विषय अभ्यास ही बन सकता है।

### नैतिकता का उपाय : शरीर बोध

प्रश्न है कि शिक्षा में नैतिकता का उपाय क्या हो सकता है ? विद्यार्थी को नैतिकता का उपाय देना, अभ्यास देना, शिक्षा का परम कार्य है। यदि शिक्षा के क्षेत्र में विद्यार्थी को नैतिकता का अधिगम नहीं दिया जाता, बोध नहीं कराया जाता, अभ्यास और उपाय नहीं दिया जाता तो मानना होगा कि नैतिकता और शिक्षा का कोई संबंध ही नहीं है। पर आज उसकी अनिवार्यता महसूस हो रही है। नैतिकता शिक्षा के साथ अवश्य जुड़े, उसका उपाय और अभ्यास जुड़े। इस प्रक्रिया में सबसे पहला तत्त्व है-शरीर-बोध और शारीरिक अभ्यास। शारीरिक अनुशासन के बिना

मानसिक और भावनात्मक अनुशासन संभव नहीं है और उसके बिना नैतिकता संभव नहीं है। शरीर और मन दोनों जुड़े हुए हैं। शरीर को छोड़कर मन की व्याख्या नहीं की जा सकती और मन को छोड़कर शरीर की व्याख्या नहीं की जा सकती। दोनों में इतना गहरा संबंध है कि एक दूसरे के बिना एक दूसरे की गति ही नहीं है।

### हिपोक्रेट्स का मत

शरीर को समझने के लिए दो तंत्रों पर विशेष ध्यान देना जरूरी है। एक है नाड़ी तंत्र और दूसरा है ग्रन्थितंत्र।

हमारे स्वभाव और भाव बदलते रहते हैं। एक आदमी अभी प्रसन्न है, थोड़ी देर बाद उदास हो जाएगा, थोड़ी देर बाद क्रुद्ध हो जाएगा। परिवर्तन होता रहता है। ऐसा क्यों होता है, इस पर शरीरशास्त्रियों ने भी विचार किया है। ग्रीक शरीरशास्त्री हिपोक्रेट्स ने मनुष्यों को चार श्रेणियों में बांटा है— १. वातवृत्ति २. पित्तवृत्ति ३. कफवृत्ति ४. रक्तवृत्ति। वातवृत्ति वाला व्यक्ति उदास और खिन्न रहता है। पित्तवृत्ति वाला गुस्सैल होता है। वह बात-बात में उत्तेजित और कुपित हो जाता है। कफवृत्ति वाला ठंडा होता है, पर लालची अधिक होता है। रक्तवृत्ति वाला सदा प्रसन्न रहता है। हमारे शरीर में चार द्रव्य हैं—वात, पित्त, कफ और रक्त। इनके आधार पर मनुष्य चार श्रेणियों में बंट गया।

### स्वभाव का हेतु

आदमी की प्रवृत्ति और स्वभाव के पीछे ये तत्त्व काम करते हैं। आदमी पहले चिड़चिड़ा नहीं था, पर बाद में चिड़चिड़ा हो जाता है शरीर-शास्त्री कहेगा कि कहीं इसका लीवर तो खराब नहीं है। होम्योपैथिक डाक्टर भी स्वभाव के आधार पर निर्णय लेगा कि यह चिड़चिड़ा है तो इसका लीवर खराब होना चाहिए। बीमारियों के कारण आदमी का भाव बदल जाता है, स्वभाव बदल जाता है। ग्रन्थियों का संतुलन बिगड़ने पर भी स्वभाव बदल जाता है। जब थाइरायड ग्रंथि ठीक काम नहीं करती है तब उत्तेजना आने लग जाती है, निराशा छा जाती है। गोनाड्स के अतिसक्रिय होने से आदमी स्वार्थी बन जाता है। जब स्वार्थ, उत्तेजना, क्रोध आदि हैं तो फिर नैतिकता की बात कैसे होगी ? नैतिकता में बहुत बड़ी बाधा है स्वार्थ। यदि स्वार्थ की बात कम हो जाती है तो अनैतिकता स्वतः कम हो जाती है, समाप्त हो जाती है।

## समीक्षा का दायरा

बहुत प्रयत्न करने पर भी अनैतिकता का प्रश्न समाहित नहीं हो रहा है। इसका कारण यह है—हमारा ध्यान वातावरण और परिवेश तक केंद्रित है। हम सारी समीक्षा वातावरण, परिस्थिति और परिवेश के आधार पर करते हैं। मनोविज्ञान में हेरिडिटी-आनुवंशिकता के आधार पर विचार किया गया। आनुवंशिकता के कारण भी यह होता है। किन्तु उससे आगे जो विज्ञान की भाषा में सोचता है, उसके लिए कोई आवश्यक नहीं, क्योंकि वहां प्रयोग और परीक्षण की सीमा आ जाती है। आगे कुछ बढ़ता नहीं। प्रश्न अनबुझे रह जाते हैं।

## आशा की किरण

आज नैतिकता का विकास क्यों नहीं हो रहा है ? क्रूरता क्यों नहीं मिट रही है ? इसका दार्शनिक कारण कर्म के आधार पर बताया जाता है। कर्म के कारण भी इस समस्या के सुलझने में कठिनाई आती है। यदि हम यह मान बैठते हैं कि कर्म में जो है, वह वैसा ही घटित होता है, बदलता नहीं, तब तो नैतिकता, अनैतिकता और शिक्षा के साथ नैतिकता का संबंध आदि बातें व्यर्थ हो जाती हैं। किन्तु कर्मवाद का एक ध्रुव सिद्धांत है कि कर्म को भी बदला जा सकता है। कर्म ध्रुव नहीं होते, परिवर्तनशील होते हैं। इसमें परिवर्तन का अवकाश है।

कर्म सूक्ष्म है। वे अभिव्यक्त होते हैं स्थूल शरीर में। हमारे शरीर की रचना बहुत जटिल है। मनुष्य के मस्तिष्क की संरचना इतनी जटिल और सूक्ष्म है कि हजारों वैज्ञानिकों ने उसे समझने का प्रयत्न किया है, पर अभी तक जो ज्ञात हुआ है वह थोड़ा है, अज्ञात अधिक है। कर्म-शरीर सूक्ष्म है। उसका संवादी है स्थूल शरीर। कर्म-शरीर। कर्म-शरीर के संस्कार स्थूल शरीर में अभिव्यक्त होते हैं। योग के क्षेत्र में अभी इस बात पर विचार किया गया कि स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का संगम-बिन्दु कहां है, जहां भीतर के प्रकंपन आकर उसको प्रभावित करते हैं वह है हमारा भाव। भाव भीतर से आता है और स्थूल शरीर को प्रभावित करता है, भावित करता है। जो संगम-बिन्दु खोजे गए, उनमें एक है नाभि, जिसे योग की भाषा में मणिपूर चक्र और प्रेक्षाध्यान की भाषा में तैजसकेन्द्र कहा जाता है। दूसरा संगम-बिन्दु है विशुद्धि-केन्द्र, जो थाइरायड ग्लैंड का केन्द्र है और तीसरा है मस्तिष्क का एक भाग, जो हाइपोथैलेमस कहलाता है। ये तीन संगम-स्थल हैं, संगम-बिन्दु हैं जहां सूक्ष्म जगत् स्थूल जगत् में प्रकट होता है।

शिक्षा के साथ संबंध हड़ता है स्थूल जगत् का, हमारे स्थूल शरीर का। शारीरिक अनुशासन के बिना दूसरा अनुशासन आ नहीं सकता और अनुशासनहीनता की समस्या का समाधान हो नहीं सकता। इसलिए शारीरिक अनुशासन बहुत आवश्यक है। जीवन-विज्ञान में उसके कुछ उपाय खोजे गए हैं। उनमें एक उपाय है आसन। आसन कोई नई खोज नहीं है, पुरानी बात है, किन्तु हमने उन आसनों को खोजा है जो हमारे भाव-परिवर्तन में उपयोगी हो सकें। जीवन-विज्ञान में उन आसनों का समावेश किया गया है। दूसरे शब्दों में वह शारीरिक अनुशासन स्वीकृत किया है, जो मानसिक और भावनात्मक अनुशासन में सहयोगी बनता है।

शशांक आसन का बहुत महत्त्व है। इसके द्वारा एड्रीनल ग्लैंड या तैजसकेन्द्र पर अनुशासन किया जा सकता है। सिद्धासन के द्वारा गोनाड्स-कामग्रंथि पर अनुशासन किया जा सकता है। वासना कितनी ही प्रबल हो, उच्छ्वेखल हो, सिद्धासन के द्वारा उस पर नियंत्रण हो सकता है। यह निश्चित उपाय है काम-वासना पर विजय पाने का। इससे उत्तेजना की प्रबलता मिट जाती है और एक अनुशासित क्रम बन जाता है।

एक प्राचीन आचार्य ने गुजराती-राजस्थानी में एक ग्रन्थ लिखा है। उसमें उन्होंने नाभि के पास होने वाली सारी वृत्तियों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। क्रोध, लोभ, अहंकार आदि जहां पैदा होते हैं, उनका विवरण प्रस्तुत करते हुए वे बताते हैं कि ये सारी वृत्तियां नाभि के आसपास पैदा होती हैं। यदि हम नैतिकता की दृष्टि से सोचें तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि जब तक इन वृत्तियों का अनुशासन नहीं होता तब तक हजार उपक्रम करने पर भी नैतिकता नहीं आ सकती। हमें आंतरिक उपाय खोजने होंगे और उन्हें शिक्षा के साथ अनिवार्यतः जोड़ना होगा।

आज की शिक्षा-प्रणाली में अनेक शारीरिक आसन कराए जाते हैं। व्यायाम कराया जाता है, जिससे विद्यार्थी का शरीर स्वस्थ रहे। यह भी शारीरिक अनुशासन का एक पक्ष है, पर भावनात्मक परिवर्तन की दृष्टि से जो आसन अपेक्षित है, उनका समावेश शिक्षा में होना चाहिए। ये आसन ग्रन्थि संतुलन और नाड़ी-संतुलन में सहयोगी बनते हैं।

### आस्था की समस्या

कहा जाता है-समाज की सबसे बड़ी समस्या है अनैतिकता की। यह दूसरे



नम्बर की समस्या है। मुख्य समस्या है-आस्था की कमी।

आचार्य तुलसी ने जब अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया तब कहा था-समाज में अनैतिकता है, यह मुझे गम्भीर समस्या नहीं लगती। गंभीर बात यह है कि नैतिकता के प्रति आदमी की आस्था नहीं रही। वह यही कहता है, 'नैतिकता से काम नहीं चलता।' यह सबसे बड़ा खतरा है। आस्था जब डिंग जाती है तब नैतिकता नहीं रह सकती। आस्था जब टिक जाती है, तब अनैतिकता नहीं रह सकती। आस्था के दृढ़ होने पर न नैतिकता का प्रश्न उठता है और न अनैतिकता का। आदमी सहज शुद्ध हो जाता है। किन्तु जब यह कहा जाने लगता है कि नैतिकता से काम नहीं चलता, ईमानदारी से काम नहीं चलता तब नैतिकता को जीवित करने का प्रयास ही समाप्त हो जाता है। इसलिए आस्था का निर्माण होना बहुत जरूरी है। समाज के सभी लोग चाहते हैं कि अनैतिकता मिटे, क्योंकि सबको उसकी कठिनाई महसूस होती है। अनैतिक आचरण करना कोई नहीं चाहता, पर करते सब हैं। सारा समाज अनैतिकता के इस चक्रव्यूह में फंसा हुआ है। वह चक्रव्यूह में फंस तो गया पर उसका भेदन करना नहीं जानता। वह कैसे बाहर निकले, यह एक प्रश्न है। जिस समाज में नैतिकता का विकास नहीं होता, वह समाज प्रगति नहीं कर सकता।

### शिक्षा जगत् की कठिनाई

अनैतिकता से सारा राष्ट्र आक्रांत है। उसे कैसे मिटाया जाए ? नैतिकता को जागृत करने के दो क्षेत्र हैं-धर्म का क्षेत्र और शिक्षा का क्षेत्र। इन दोनों क्षेत्रों से विद्यार्थी में संस्कार आ सकते हैं। यहीं विद्यार्थी का निर्माण हो सकता है।

आज धर्म के क्षेत्र में नैतिकता और चरित्र की अपेक्षा उपासना की पद्धति पहले स्थान पर बैठी है। शिक्षा के क्षेत्र में यदि अभ्यास-क्रम से विद्यार्थी को कुछ मिल जाए तो कुछ समाधान हो सकता है पर शिक्षा जगत् की भी अपनी कठिनाई है। आज का शिक्षाशास्त्री, शिक्षक, शिक्षण संस्थाएं या अन्यान्य संस्थान जो शिक्षा की दिशा में काम कर रहे हैं, उनकी भी यही धारणा है कि विद्यार्थी को बौद्धिक विकास पूरा करा दिया जाए। टेक्नोलॉजी और इन्टलेक्ट को जितना महत्त्व मिल रहा है उतना महत्त्व चरित्र-निर्माण या समाज-व्यवस्था के घटकों के निर्माण को नहीं दिया जा रहा है, क्योंकि वे उस ओर ध्यान ही नहीं दे पा रहे हैं और उनके सामने इसका स्पष्ट चित्र भी नहीं है।

यह सब अनुभव कर रहे हैं कि सामाजिक व्यवस्थाओं को सुचारू रूप से

चलाने के लिए कुछ तत्त्व अपेक्षित हैं। यह भी सब जानते हैं कि समाज की व्यवस्था और शिक्षा की व्यवस्था- इन दोनों में गहरा संबंध है। शिक्षा का काम है ऐसे व्यक्ति तैयार करना, जो समाज-व्यवस्था के प्रेरक बन सकें और उसको ठीक ढंग से चला सकें। जीवन-विज्ञान की शिक्षा पद्धति में सैद्धांतिकता कम है और अभ्यास अधिक है। उसका समाज-व्यवस्था में तालमेल हो सकता है।

### रूपान्तरण के केन्द्र

भारत के ऋषि-महर्षियों ने, आचार्यों ने व्यक्तित्व के रूपान्तरण के लिए, उच्च चेतना को जगाने के लिए अनेक उपाय खोजे थे। उन्होंने शरीर पर बहुत ध्यान दिया, क्योंकि शरीरतन्त्र मुख्य तन्त्र है। चेतना भी तो शरीर के भीतर ही है। शरीर के बिना चेतना की अभिव्यक्ति कहाँ हो सकती है ? उन्होंने शरीर में ऐसे केन्द्र खोजे, जहाँ व्यक्ति के बदलने की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। ऐसे केन्द्र दो-चार नहीं, सैकड़ों केन्द्र खोजे गए, जिनके द्वारा वृत्तियों का परिवर्तन किया जा सकता है, स्वभाव को बदला जा सकता है।

आज का विद्यार्थी केवल पढ़ता है। वह मनन नहीं करता। उसके पास मनन करने के लिए समय ही नहीं है। मनन के बिना आचरण की बात प्राप्त नहीं होती। पढ़ना, मनन करना, आचरण करना-ये तीनों अभ्यासात्मक हैं। इनकी समन्विति से ही धर्म या नैतिकता जीवन में अभिव्यक्ति पाती है।

### अभ्यास

१. नैतिकता के विकास के लिए शारीरिक अनुशासन क्यों जरूरी है ?
२. नैतिक परिवर्तन में क्या कर्म भी एक आधार बनता है ?
३. भावात्मक परिवर्तन से क्या नैतिक विकास किया जा सकता है ?
४. काण्ट और जीवन विज्ञान द्वारा बताये गये नैतिक आधारों पर अपनी समीक्षात्मक टिप्पणी कीजिए।

## शिक्षा और जीवन-मूल्य

प्राचीन शिक्षा-प्रणाली में नैतिकता का बहुत मूल्य था और उसकी चर्चा भी उपलब्ध होती है। आज 'नैतिक शिक्षा' इस शब्द के स्थान पर 'मूल्यपरक शिक्षा'- यह शब्द प्रस्थापित हो गया है। इसकी आज बहुत चर्चा है। आज मूल्यों की अपेक्षा है। उसकी पूर्ति का साधन शिक्षा बने। जीवन-विज्ञान की प्रणाली में सोलह मूल्यों का निर्धारण किया गया है। वे जीवन-विज्ञान की शिक्षा के साथ जुड़े हुए हैं। जीवन विज्ञान में उन मूल्यों को अनेक स्तरों में बांटा गया है-

### मूल्यों का वर्गीकरण

१. सामाजिक मूल्य-कर्तव्यनिष्ठा, स्वावलंबन।
२. बौद्धिक-आध्यात्मिक मूल्य-सत्य, समन्वय, संप्रदाय-निरपेक्षता, मानवीय एकता।
३. मानसिक मूल्य-मानसिक संतुलन, धैर्य।
४. नैतिक मूल्य - प्रामाणिकता, करुणा, सह-अस्तित्व।
५. आध्यात्मिक मूल्य-अनासक्ति, सहिष्णुता, मुदुता, अभय, आत्मानुशासन।

पहले वर्ग के मूल्य बौद्धिक हैं। दूसरे वर्ग के चारों मूल्य शुद्ध रूप में बौद्धिक नहीं कहे जा सकते। वे बौद्धिक भी हैं और आध्यात्मिक भी हैं। सत्य की खोज करना बुद्धि का काम है। अध्यात्म का भी काम है सत्य की खोज करना। इसी प्रकार शेष तीन मूल्य भी बौद्धिक और आध्यात्मिक-दोनों हैं।

इस प्रकार पांचों वर्ग के सोलह मूल्यों का विकास करना जीवन-विज्ञान का ध्येय है। सामाजिक और नैतिक दृष्टि से इनका विकास होना बहुत जरूरी है। मूल्यपरक दृष्टि में मूल्य का बोध होना बहुत आवश्यक है, अन्यथा सामाजिक स्थिति लड़खड़ा जाती है।

जिसको मूल्य-बोध नहीं होता, वह किसी चीज का मूल्य/कन नहीं कर सकता!

## मूल्य बोध की चेतना जागे

मूल्य-बोध की चेतना को जगाना परम आवश्यक है। एक मूल्य से कभी समाज नहीं चलता। केवल सामाजिक मूल्यों की पूर्ति से समाज नहीं चलता। इसी प्रकार केवल शारीरिक, आर्थिक या बौद्धिक मूल्यों की पूर्ति से कभी समाज नहीं चलता और केवल आध्यात्मिक मूल्यों के आधार पर भी समाज नहीं चलता। समाज एक संगठित और समन्वित तत्त्व है। उसके लिए सभी मूल्यों की पूर्ति जरूरी है। आदमी एकांगीदृष्टि से कह देता है कि समाज अर्थ की पूर्ति से सुव्यवस्थित चल सकता है। सारा भार अर्थ पर डाल दिया जाता है। क्या अर्थ की पूर्ति करने वाले व्यक्ति में कला, संगीत और साहित्य के प्रति रुचि नहीं होती ? क्या उसमें अन्य आकांक्षा और कामना नहीं होती ? आदमी यन्त्र नहीं हैं उसको यन्त्र मानकर व्यवहार नहीं किया जा सकता। हमें उसके व्यवहार, संवेग और मौलिक मनोवृत्तियों के आधार पर उसके साथ व्यवहार करना होगा। वह किसी यंत्र का पुर्जा नहीं है, ईंट-पत्थर नहीं है कि जहां चाहे वहां फिट कर दे। वह चेतनावान् प्राणी है, उसकी अपनी रुचि है, आकांक्षा और कामना है। ऐसी स्थिति में एकांगी-दृष्टि से नहीं सोचा जा सकता।

## मूल्यों की उपेक्षा: परिणाम

साम्यवादी प्रणाली में मूल्यों की उपेक्षा की गई, उसका परिणाम यह आया कि व्यक्ति का सर्वांगीण विकास नहीं हो पाया। अनेक समस्याएं उभरीं। जिन लोगों ने प्रजातांत्रिक प्रणाली में भी आर्थिक मूल्यों को अतिरिक्त मूल्य दिया, वहां असंतोष और पागलपन बढ़ा। जब अर्थ या भोग का मूल्य अतिरिक्त होता है तब पागलपन बढ़ता है और एक प्रकार की ऊब पैदा होती है। जहां अध्यात्मिक मूल्यों को अतिरिक्त स्थान दिया जाता है वहां गरीबी बढ़ सकती है, परतंत्रता भी आ सकती है। अध्यात्म या भक्ति में रत रहने वाला सोच सकता है, यही सार है। कमाने की या खेती की जरूरत ही क्या है ? वह दिन-रात भक्ति में लीन रहता है। कैसे चलेगा? वह परिवार का पोषण कैसे करेगा ?

जहां अतिक्रमण होता है वहां समस्याएं उत्पन्न होती हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि आदमी का दृष्टिकोण यथार्थवादी बने। जिसका; जिस स्तर पर, जितना मूल्य हो उसको उतना मूल्य दिया जाए। शरीर के स्तर पर जिसका मूल्य है उसकी तुलना शरीर के स्तर पर ही हो सकती है और अध्यात्म के स्तर पर जिसका

मूल्य है, उसकी तुलना अध्यात्म के स्तर पर ही हो सकती है। दोनों में असमानता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। शरीर के स्तर का मूल्य है भोजन करना और अध्यात्म के स्तर का मूल्य है भक्ति करना। प्रश्न होता है कि भोजन का मूल्य अधिक है या भक्ति का ? इस विषय में एकांगी दृष्टि से कुछ नहीं कहा जा सकता। इससे अधिक या कम की तुलना नहीं की जा सकती। हमारा निर्णय होता है कि शारीरिक स्तर पर भोजन का मूल्य अधिक है और आध्यात्मिक स्तर पर भक्ति का मूल्य अधिक है।

### मूल्य है अपना-अपना

बहुत बार प्रश्न आता है कि गृहस्थी का स्थान ऊंचा है या संन्यास का ? इसकी तुलना करना बहुत कठिन है। दो स्तरों के बीच समानता की बात नहीं सोची जा सकती। गृहस्थ के स्तर में और संन्यासी के स्तर में बहुत बड़ा अन्तर है। सामाजिक स्तर पर गृहस्थ का मूल्य अधिक है और अध्यात्म के स्तर पर संन्यासी का मूल्य ज्यादा है। किन्तु दोनों की तुलना नहीं की जा सकती। स्तर अलग हैं। जब तक यह स्तरीय बोध स्पष्ट नहीं होता, तब तक उलझनें पैदा होती रहती हैं। प्राचीन साहित्य में कहा गया है- 'गृहस्थाश्रमसमो धर्मो न भूतो न भविष्यति'-गृहस्थाश्रम के समान न तो कोई धर्म हुआ है और न होगा। इसी प्रकार संन्यास का भी अपना स्थान है। उसके समान कोई आश्रम नहीं है। स्तरों की तुलना नहीं हो सकती। हम उनका मूल्यांकन भिन्न-भिन्न दृष्टि से ही कर सकते हैं।

धर्म और सम्प्रदाय का अपना मूल्य है। धर्म है आध्यात्मिक चेतना का जागरण, और संप्रदाय है चेतना के जागरण में सहयोग देने वाला संस्थान। धर्म का लक्ष्य है बंधन मुक्त होना। संस्थागत धर्म से विरोध हो सकता है, पर चारित्रिक धर्म से विरोध नहीं हो सकता। धर्म और संप्रदाय-दोनों का अपना-अपना मूल्य है।

घड़ा बना, इसमें ज्यादा योग मिट्टी का है या कुम्हार का ? ज्यादा-कम नहीं बताया जा सकता। दोनों का अलग-अलग मूल्य है। मिट्टी मूल कारण है और कुम्हार निमित्त कारण है। घड़ा दोनों कारणों से बनता है। दोनों का अपना-अपना स्तरीय मूल्य है।

शिक्षा के क्षेत्र में मूल्यों की चर्चा बहुत आवश्यक है। इसके दो पहलू हैं-मूल्य की सीमा का बोध और मूल्य-प्राप्ति के साधनों का बोध।

प्रश्न है कि विद्यार्थी को ये मूल्य कैसे प्राप्त कराए जाएं। जीवन-विज्ञान की प्रणाली में मूल्य-प्राप्ति के साधनों के प्रयोग निर्धारित किए गए हैं। उनका अभ्यास

करने से मूल्यात्मक चेतना विकसित होती है।

मूल्य-बोध में दार्शनिक दृष्टि बहुत आवश्यक है और मूल्य-प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक प्रयोग जरूरी है। मूल्यांकन में बहुत अन्तर होता है, इसलिए दार्शनिक दृष्टि बहुत स्पष्ट होनी चाहिए। मूल्यांकन समान नहीं होता। जब तक सर्वांगीण जीवन-दर्शन के द्वारा मूल्यपरक दृष्टि स्पष्ट नहीं होती तब तक मानसिक उलझनें मिटती नहीं।

शिक्षा में मूल्य-बोध जितना स्पष्ट होगा उतनी ही स्थिति स्पष्ट होगी और सामाजिक मूल्यों का सामंजस्य होगा। मूल्य-बोध की स्पष्टता और उनकी सीमा का बोध नितान्त आवश्यक है।

### मानसिक सन्तुलन का प्रश्न

मानसिक संतुलन और धैर्य-ये दो मानसिक मूल्य हैं। तनाव के कारण अनेक उपद्रव होते हैं। तनाव में मानसिक संतुलन अस्त-व्यस्त हो जाता है। संतुलन के अभाव में समस्याएं पैदा होती हैं। पारिवारिक कलह, सामाजिक संघर्ष आदि असंतुलन की देन हैं।

इस स्थिति में विद्यार्थी को मानसिक असंतुलन से होने वाली समस्याएं और परिणाम तथा मानसिक संतुलन से होने वाले लाभ का पूरा बोध कराना आवश्यक है। केवल बोध ही नहीं, उसे प्रयोगात्मक रूप से यह भी सीखाना जरूरी है कि मानसिक संतुलन कैसे प्राप्त किया जा सकता है।

मनोविज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में मानसिक संतुलन की चर्चाएं हुईं। वहां इसकी पूरी जानकारी प्राप्त है, पर प्रयोग वहां उपलब्ध नहीं हैं, इस दृष्टि से वह जानकारी अधूरी रह जाती है।

विद्यार्थी को केवल मूल्य-बोध करा देना ही पर्याप्त नहीं है, उसको प्रयोग सिखाने चाहिए। जानकारी का अगला चरण है प्रयोग। दोनों पक्ष संयुक्त हैं। मानसिक संतुलन उपायों के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और वातावरण को अच्छा बनाया जा सकता है। कोई व्यक्ति अपने मानसिक स्वास्थ्य को नहीं बिगाड़ता है तो यह बहुत बड़ी बात है। मानसिक अस्वास्थ्य या असंतुलन के कारण ही सारी समस्याएं उभरती हैं।

आज की शिक्षा में ज्ञानात्मक पक्ष उजागर हैं, किन्तु प्रयोगात्मक पक्ष कमजोर है या है ही नहीं। इसलिए शिक्षा अधूरी है। यदि उसे पूरी बनाना है तो दोनों

पक्षों-बौद्धिक और प्रयोगात्मक-की संयोजना करनी होगी। यही जीवन-विज्ञान की प्रणाली है।

### ज्ञान और आचार

भगवान् महावीर ने व्यक्तियों को चार भागों में बांटा है-

१. ज्ञान-संपन्न किन्तु शील-संपन्न नहीं।
२. शील-संपन्न किन्तु ज्ञान-संपन्न नहीं।
३. ज्ञान-संपन्न भी शील-संपन्न भी।
४. न ज्ञान-संपन्न और न शील-संपन्न।

इनमें तीसरा विकल्प समग्र व्यक्तित्व का बोधक है। शिक्षा का उद्देश्य है-ऐसी चेतना का विकास जिससे ज्ञान और आचार-दोनों को बल मिले। बौद्धिक पाठ्यक्रम से ज्ञान पढ़ाया जा सकता है, किन्तु उससे चरित्र का विकास नहीं हो सकता। चरित्र का विकास करना बुद्धि का काम नहीं है। यह दूसरी शक्ति का काम है। बुद्धि भी मस्तिष्क का कार्य है। चरित्र का विकास करना भी मस्तिष्क का कार्य है। पर इनके लिए सेन्टर भिन्न-भिन्न हैं। बुद्धि का सेन्टर है-रीजनिंग माइन्ड और चरित्र-विकास का सेन्टर है-इमोशनल माइन्ड। बुद्धि का काम है निर्णय करना, निश्चय करना। यह विवेक का क्षेत्र है। इमोशनल माइन्ड में संवेगों पर नियंत्रण करने के सेन्टर हैं। चरित्र-विकास के लिए नियंत्रण की क्षमता को बढ़ाना आवश्यक है।

### जीवन विज्ञान : धर्म की परिभाषा

मूल्य दो प्रकार के होते हैं-साध्यमूल्य और साधनमूल्य। नियन्त्रण साधन-मूल्य है। इसके द्वारा साध्य की दिशा में, समग्र व्यक्तित्व के विकास की दिशा में प्रगति की जा सकती है।

प्रश्न होता है कि धर्म क्या है ? सम्प्रदायों के आधार पर धर्म की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं। सम्प्रदाय-निरपेक्ष भाषा में धर्म की परिभाषा यह हो सकती है- अपने संवेगों पर नियन्त्रण की क्षमता का विकास ही धर्म है।

यह धर्म शिक्षा के साथ जुड़ता है तो किसी भी धर्म-सम्प्रदाय को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इसमें न साम्प्रदायिकता का प्रश्न है और न जातीयता और राष्ट्रीयता का प्रश्न है। यह निर्विशेषण धर्म है। इसका समावेश शिक्षा में होना अनिवार्य है। यदि यह शिक्षा के साथ जुड़ता है तो शिक्षा का आज जो लंगड़ापन है, वह मिट जाता है। अन्यथा ज्ञान बढ़ेगा पर चरित्र नहीं बढ़ सकेगा। समग्र

व्यक्तित्व उस व्यक्ति का होता है जो ज्ञान-सम्पन्न भी है और आचार-सम्पन्न भी है।

### व्यवहार का महत्व

केवल पढ़ा-लिखा होने मात्र से पारिवारिक सामंजस्य नहीं हो जाता। पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी बहुत झगड़ालू होता है। उसमें ज्ञान का अहं होता है और तब उसका विवेक जागृत नहीं होता। जब तक व्यक्ति में ज्ञान के साथ आचार की बात विकसित नहीं होती तब तक वह परिवार के लिए खतरा बना रहता है। उसका पारिवारिक जीवन विवादग्रस्त बन जाता है वह सह-अस्तित्व की बात भूल जाता है। जो व्यक्ति परिवार में सामंजस्यपूर्ण स्थिति स्थापित कर सकता है, वह कम पढ़ा-लिखा होने पर भी अधिक उपयोगी होता है। जो ऐसा नहीं कर सकता, वह कितना ही पढ़-लिख जाए, उसका ज्ञान मूल्यहीन है। आदमी दूसरे आदमी से जुड़ता है, उसमें उसका व्यवहार मुख्य कारण बनता है, ज्ञान नहीं। यदि उसका व्यवहार मृदु और सौहार्दपूर्ण है तो वह सबका प्रिय बन जाता है। लोग उसके व्यवहार की प्रशंसा करेंगे, उसके ज्ञान को नहीं पूछेंगे।

### दायित्व चेतना

ज्ञान बहुत खतरनाक होता है। आचरणमुक्त ज्ञान अत्यन्त खतरनाक होता है। इस खतरे को आज जन-जन भोग रहा है, फिर भी उसी बुद्धि और ज्ञान की पूजा की जा रही है, उसी को बढ़ाने का प्रयत्न हो रहा है।

हमारा प्रारम्भ अधिकार पक्ष से होता है। बच्चा अपने अस्तित्व को तृप्त करने के लिए प्रयत्न करता है। शिक्षा का काम है अधिकार पक्ष को सीमित कर दायित्व पक्ष को विकसित करना। जब दायित्व पक्ष विकसित नहीं होता है और अधिकार पक्ष प्रबल बना रहता है तो वह खतरनाक सिद्ध होता है। आज जो आर्थिक और सत्तागत समस्याएँ हैं वे सारी अधिकार पक्ष के साथ जुड़ी हुई हैं। अधिकार पक्ष की मनोवृत्ति बचपन से ही शुरू हो जाती है और वह क्रमशः बढ़ती जाती है। जब सामाजिक और पारिवारिक दायित्व की चेतना नहीं जागती तब निरंकुश अधिकार पक्ष सारे चरित्र को ले डूबता है। शिक्षा का काम है-दायित्व की चेतना को जगाना। उस चेतना का जागरण धर्म या अध्यात्म की शिक्षा के बिना सम्भव नहीं है। उसके बिना वातावरण या परिस्थिति के साथ सामंजस्य स्थापित करने की स्थिति नहीं बनती।



## सामंजस्यपूर्ण जीवन

अनेकांत की पहली शर्त है-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के साथ सामंजस्य स्थापित करना। आज यह अध्ययन किया जा रहा है कि स्वभाव और चरित्र में क्या सम्बन्ध है ? हमारे स्वभाव और चरित्र का सम्बन्ध वस्तु के साथ नहीं, क्षेत्र के साथ है और विभिन्न अवस्थाओं के साथ है। वातावरण के साथ सामंजस्यपूर्ण स्थिति चारित्रिक विशेषता प्रदान करती है। जो व्यक्ति पढ़ा-लिखा होकर भी परिस्थिति और वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकता, वह चरित्रवान् नहीं हो सकता। सामंजस्य हमारे जीवन का मूल्य है। यह सह-अस्तित्व का मूल मन्त्र है। इस स्थिति का निर्माण करने में दर्शन और धर्म का पूरा सहयोग रहता है। जीवन-विज्ञान के क्षेत्र में दर्शन का अर्थ है-सर्वांगीण जीवन-दर्शन, वह जीवन जो एकपक्षीय न हो।

प्रश्न यह है-सर्वांगीण जीवन दर्शन के प्रति हमारी रुचि कैसे बढ़े और नियंत्रण की शक्ति का विकास कैसे हो ?

इस प्रश्न का समाधान विनम्रता के मूल्य को विकसित करना है। प्राचीन सूत्र है-**‘विद्या ददाति विनयम्’**- विद्या विनय उपलब्ध कराती है। इसको हम इस प्रकार बदल दें-**‘विनयो ददाति विद्याम्’**- विनय विद्या उपलब्ध कराता है। दोनों का सम्बन्ध है। एक चक्र बन जाता है। विद्या विनय देती है। विनय विद्या देता है। यह भी रूढ़ जैसा बन गया है। हम हार्द को कम पकड़ पा रहे हैं कि विद्या विनय कैसे देती है ? विनय विद्या कैसे देता है।

## ग्रहणशीलता का विकास

विद्या ग्रहणशील व्यक्ति को प्राप्त होती है। जो ग्रहणशील नहीं होता वह विद्या को प्राप्त नहीं कर सकता। ग्रहणशील वह होता है जो विनम्र होता है। वह विद्या को पकड़ पाता है। यह हीनभावना या लाचारी नहीं है। आज शिक्षा के क्षेत्र में विनय को हीनभावना माना जाता है। मूल्य बदल गया।

विनय की परिभाषा है-ग्रहणशीलता। यहां कोई अवरोध नहीं, रुकावट नहीं। द्वार सदा खुला रहता है। शिक्षा के साथ यह बात जुड़नी चाहिए। किंतु यह भी धार्मिक चेतना के बिना नहीं हो सकती। जब आवेगों पर नियंत्रण पाने में कठिनाई होती है जब समग्र जीवन-दर्शन की प्राप्ति संभव नहीं होती। जिस दर्शन की प्रणाली में सामाजिक, आर्थिक और नैतिक मूल्य तथा मानसिक और आध्यात्मिक मूल्यों की संभावना का समावेश नहीं होता, वह एकांगी है। उससे

बहुत भला नहीं होता। सर्वांगीण दर्शन वह होता है जिसमें विभिन्न स्तरीय मूल्यों का सामंजस्य होता है यह शिक्षा का सर्वांगीण दर्शन बनता है।

### अभ्यास

१. मूल्य परक शिक्षा से आप क्या समझते हैं ?
२. क्या शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान का विकास करना है ? अपने उत्तर को सप्रमाण स्पष्ट करें ।

## शिक्षा और मुक्ति की अवधारणा

### मुक्ति वर्तमान क्षण में

शिक्षाजगत् का प्रसिद्ध सूत्र है-‘सा विद्या या विमुक्तये’- विद्या वही है जिससे मुक्ति सधे। मुक्ति के अर्थ को हमने एक सीमा में बांध दिया। हमने उसे मोक्ष के अर्थ में देखा। मोक्ष की बात बहुत आगे की है, मरने के बाद की है। जिसको जीते जी मुक्ति नहीं मिलती, उसको मरने के बाद भी मुक्ति नहीं मिल सकती। वर्तमान क्षण में मुक्ति मिलती है तो वह आगे भी मिल सकती है। जो वर्तमान क्षण में बंधा रहता है, उसे आगे मुक्ति मिलेगी, ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती। मुक्ति का एक व्यापक संदर्भ है। उसे हमें समझना है। उसे समझ लेने पर हमारा दृष्टिकोण बहुत कार्यकर होगा।

### मुक्ति : व्यापक संदर्भ

शिक्षा के क्षेत्र में मुक्ति का पहला अर्थ है-अज्ञान से मुक्त होना। अज्ञान बहुत बड़ा बन्धन है। अज्ञान के कारण ही व्यक्ति अनेक अनर्थ करता है। इसे आवरण माना गया है आवरण बन्धन है। शिक्षा का पहला काम है-इस बन्धन से मुक्ति दिलाना, अज्ञान से मुक्त करना। इस परिप्रेक्ष्य में हम कहेंगे-‘सा विद्या या विमुक्तये’- शिक्षा वह है, जो अज्ञान से मुक्त करती है।

मुक्ति का दूसरा संदर्भ है-संवेगों के अतिरेक से मुक्ति। आदमी में संवेग का अतिरेक होता है और वह आदमी को पकड़ लेता है, आसानी से नहीं छूटता। जब तक व्यक्ति वीतराग अवस्था को प्राप्त नहीं हो जाता तब तक वह संवेगों से पूर्णरूपेण छुटकारा नहीं पा सकता। संवेगों के अतिरेक के कारण आदमी दूसरों के लिए सिर दर्द बन जाता है। ऐसी स्थिति में यह स्वयं प्राप्त होता है कि शिक्षा उसे संवेग के अतिरेक से मुक्त दिलाए। इसका अर्थ है कि मनुष्य में संवेगों पर नियन्त्रण करने की क्षमता बढ़े जिससे कि संवेगों की प्रचुरता न रहे। वे एक सीमा में आ जाएं।

मुक्ति का तीसरा संदर्भ है-संवेदों के अतिरेक से मुक्ति। इन्द्रियों की जो

संवेदनाएं हैं उनका अतिरेक भी समस्याएं पैदा करता है और समाज में अनेक उलझनें उत्पन्न करता है। शिक्षा का यह महत्त्वपूर्ण कार्य है कि वह संवेदनाओं के अतिरेक से व्यक्ति को मुक्ति दिलाए।

मुक्ति का चौथा संदर्भ है-धारणा और संस्कार से मुक्ति। व्यक्ति धारणाओं और अर्जित संस्कारों के कारण दुःख पाता है। शिक्षा का कार्य है कि वह इनसे मुक्ति दिलाए।

मुक्ति का पांचवां संदर्भ है-निषेधात्मक भावों से मुक्ति। व्यक्ति का नेगेटिव एटिट्यूड समस्या पैदा करता है। इससे मुक्त होना भी बहुत आवश्यक है।

इन पांच संदर्भों में मुक्ति को देखने पर 'सा विद्या या विमुक्तये' का सूत्र बहुत स्पष्ट हो जाता है। वास्तव में विद्या वही होती है, जो मुक्ति के लिए होती है, जिससे मुक्ति सधती है। हम कसौटी करें और देखें कि क्या आज की शिक्षा से ये पांचों संदर्भ सधते हैं ? क्या वास्तव में अज्ञान आदि से मुक्ति मिलती है ? यदि अज्ञान आदि से मुक्ति मिलती है तो वह शिक्षा परिपूर्ण है और यदि नहीं मिलती है तो उसमें कुछ जोड़ना शेष रह जाता है। जीवन-विज्ञान की पूरी कल्पना इन संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में की गई है। जिन-जिन संदर्भों में मुक्ति की बात सोच सकते हैं, वे बातें शिक्षा के द्वारा फलित होनी चाहिए।

### आज की समस्या

आज शिक्षा के द्वारा अज्ञान की मुक्ति अवश्य हो रही है किंतु संवेग के अतिरेक से मुक्ति आदि की बातें शिक्षा से जुड़ी हुईं न हों, ऐसा प्रतीत होता है। धारणा यही है कि यह बात धर्म के क्षेत्र की है, शिक्षा के क्षेत्र की नहीं है। यह धारणा अस्वाभाविक भी नहीं है, क्योंकि धर्म का मूल अर्थ ही है संवेगों पर नियन्त्रण पाना। यह धर्म के मंच का काम होना चाहिए। शिक्षा क्षेत्र का यह कार्य क्यों होना चाहिए ? ऐसा सोचा जा सकता है पर वर्तमान परिस्थिति में धर्म की भी समस्या है और वह यह है कि धर्म का स्थान मुख्यतः सम्प्रदाय ने ले लिया है। इसलिए साम्प्रदायिक वातावरण में धर्म के द्वारा संवेग-नियंत्रण की अपेक्षा रखना निराशा की बात है।

एक स्थिति यह है कि आज का विद्यार्थी दिन में इतना व्यस्त रहता है कि उठते-बैठते ही वह विद्यालय जाने की बात सोचता है और वहां से लौटने पर गृह-कार्य (होम वर्क) में निमग्न हो जाता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक घर में रहते हुए भी पिता-पुत्र नहीं मिल पाते। आज सामाजिक वातावरण और

स्थितियां ही ऐसी बन गई हैं। एक व्यक्ति से पूछा गया-क्या तुम कभी अपनी संतान को शिक्षा देते हो ? वह बोला- मैं सुबह देरी से उठता हूँ, तब तक लड़का स्कूल चला जाता है। जब वह स्कूल से लौटकर आता है तब तक मैं ऑफिस में रहता हूँ। जब मैं देरी से घर लौटता हूँ, तब तक वह सो जाता है और सुबह जल्दी उठकर चला जाता है। आमने-सामने होने का कभी अवसर ही नहीं आता। केवल रविवार को मिल पाते हैं।

### साक्षरता और संस्कार

इस स्थिति में बालक का निर्माण शिक्षा से जुड़ जाता है। शिक्षा के साथ कुछ ऐसे तत्त्व और जुड़ने चाहिए, जिनसे बच्चे के संस्कारों का निर्माण हो और उसे वह मौका भी मिले कि वह अपने संवेगों और संवेदनाओं का परिष्कार कर सके। आज दोनों कामों को एक ही मंच से करना होगा। बच्चों का निर्माण भी हो और संस्कार-परिष्कार भी हो। शिक्षा के क्षेत्र से ये दोनों काम हो सकते हैं। इस दृष्टि से शिक्षा जगत् का दायित्व दोहरा हो जाता है। यह बहुत बड़ा दायित्व है। 'फेरो' ने बहुत बड़ी बात कही है-'वर्तमान विद्यालय व्यक्ति को साक्षर बनाते हैं, शिक्षित नहीं बनाते।' साक्षर बनाना एक बात है और शिक्षित करना दूसरी बात है। आज की साक्षरता भी कुछ ऐसी हो गई है कि उसकी तुलना कम्प्यूटर या टेपरिकार्डर से की जा सकती है। हमने भ्रमवश स्मृति और बुद्धि को एक मान लिया है। स्मृति और बुद्धि एक नहीं है। कम्प्यूटर में इतनी तीव्र स्मृतियां नियोजित हैं कि आदमी उसके सामने कुछ भी नहीं है, बहुत छोटा है। आज का युग कम्प्यूटर का होता जा रहा है। सूचनाओं, ज्ञान और आंकड़ों का सम्बन्ध स्मृति से है। टेपरिकार्डर सारी बात दुहरा देता है।

शिक्षा का काम केवल स्मृति को बढ़ाना ही नहीं है, केवल आंकड़ों से मस्तिष्क को भरना ही नहीं है, साक्षरता ला देना ही उसका काम नहीं है, उसका काम भावों का परिष्कार करना भी है। इसी से व्यक्ति में स्वतंत्र निर्णय और दायित्व बोध की क्षमता विकसित होती है। यह तभी सम्भव है कि शिक्षा केवल साक्षरताभिमुख न रहे। उसमें कुछ और भी जुड़े।

### ज्योति का प्रज्वलन

संवेग और संवेद-ये दो महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं, क्योंकि वर्तमान में जो सामयिक समस्याएँ हैं वे सारी इन दो तत्त्वों के साथ जुड़ी हुई हैं। जो शिक्षा प्रणाली विद्यार्थियों को समाज की वर्तमान समस्याओं के संदर्भ में कुछ कार्य करने की प्रेरणा नहीं देती,

वह शिक्षा-प्रणाली बहुत काम की नहीं होती। फेरो ने ठीक ही लिखा है-‘साक्षर व्यक्ति केवल सरकार का ईंधन बनता है।’ आज की शिक्षा ईंधन मात्र तैयार कर रही है, ज्योति तैयार नहीं करती। ज्योति और ईंधन एक बात नहीं है। ईंधन तैयार करना बहुत बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है ज्योति प्रज्वलित करना।

### अज्ञान : भारतीय दर्शन की अवधारणा

आज समूचे विश्व में बहुत क्रांतदृष्टि से सोचा जा रहा है कि शिक्षा में क्या परिवर्तन होना चाहिए। जिस शिक्षा से समाज में, व्यवस्थाओं में परिवर्तन नहीं आता, संकट कम नहीं होता, समाज का उत्पीड़न कम नहीं होता, उस शिक्षा को भारतीय दर्शन में अशिक्षा और उस ज्ञान को अज्ञान माना है। भारत की प्रत्येक धर्म-परम्परा में यह स्वर समान रूप से मिलेगा कि जिससे संयम की शक्ति और ज्ञान की शक्ति नहीं बढ़ती, वह ज्ञान अज्ञान है। जिसमें त्याग और संयम नहीं है, वह पंडित नहीं, बाल है।

जैन ग्रंथों में ‘बाल’ और ‘पंडित’-ये दो शब्द प्रचलित हैं। बाल तीन प्रकार के होते हैं। एक बाल होता है अवस्था से, दूसरा बाल होता है अज्ञान से और तीसरा बाल होता है असंयम से। जिसमें त्याग की क्षमता नहीं है, वह सत्तर वर्ष का हो जाने पर भी ‘बाल’ कहा जाएगा। जिसमें त्याग की क्षमता है, अस्वीकार की क्षमता है, बलिदान की क्षमता है, वह चाहे बीस वर्ष का ही हो फिर भी उसे पंडित कहा जाएगा, बाल नहीं कहा जाएगा। गीता में पंडित उसे कहा है, जिसके सारे समारम्भ वर्जित हो गए हैं। जैन आगम सूत्रकृतांग में एक प्रश्न आया-‘बाल’ और ‘पंडित’ किसे कहा जाए ? सूत्रकार ने उत्तर दिया- ‘अविरइं पडुच्च बालेत्ति आह, विरइं पडुच्च पंडिएत्ति आह’- जिसमें अविरति है, अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण करने की क्षमता नहीं, वह ‘बाल’ है। जिसमें विरति है, अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण करने की क्षमता है, वह ‘पंडित’ है।

### इच्छाओं पर नियंत्रण

इच्छा प्राणीमात्र का असाधारण गुण है, विशिष्ट गुण है। जिसमें इच्छा नहीं होती, वह प्राणी नहीं होता। यह प्राणी और अप्राणी की भेद-रेखा है। इच्छा पैदा होना एक बात है ही और किस इच्छा को स्वीकार करना, किस इच्छा को अस्वीकार करना, यह कांट-छांट मनुष्य ही कर सकता है। अन्य प्राणी ऐसा नहीं कर सकते। मनुष्य की विवेक-चेतना जागृत होती है, इसलिए वह इच्छा की कांट-छांट कर सकता है। वह हर इच्छा को स्वीकार नहीं करता। यदि वह प्रत्येक

इच्छा को स्वीकार करता चले तो सारी व्यवस्था गड़बड़ा जाती है एक सुन्दर मकान देखा, किसकी इच्छा नहीं होगी कि मैं इस मकान में रहूँ ? इच्छा हो सकती है रास्ते में खड़ी सुन्दर कार को देखा, कौन नहीं चाहेगा कि मैं इसमें सवारी करूँ। प्रत्येक रमणीय, सुन्दर और मनोरम वस्तु के लिए व्यक्ति की इच्छा हो सकती है पर वह यह सोचकर इच्छा को अमान्य कर देता है कि यह मेरी सीमा की बात नहीं है। यह है विवेक-चेतना का काम।

शिक्षा का काम है कि वह मनुष्य-मनुष्य में विवेक-चेतना को जगाए। इससे संवेग-नियन्त्रण और संवेदनाओं तथा आवेगों पर नियन्त्रण करने की क्षमता पैदा होती है।

### संवेग समस्या का कारण

आज युग बदल गया, परिस्थितियाँ बदल गईं, किन्तु हमारी धारणाएँ और संस्कार नहीं बदले। युग के साथ-साथ जो परिवर्तन आना चाहिए था, वह नहीं आया। समाज में ओसर-मोसर की बात, छुआछूत और दहेज की बात वैसे ही चल रही है जैसे वह प्राचीन काल में चलती थी। प्राचीन काल में, सम्भव है, इनका मूल्य रहा हो, पर आज वे सब मूल्यहीन बन गए हैं। फिर भी ये सारी प्रवृत्तियाँ आज भी चल रही हैं। बहुत सारी सामाजिक समस्याएँ जो सिरदर्द बनी हुई हैं, एक शिक्षित व्यक्ति में उनका परिवर्तन होना चाहिए। अनेक अन्धविश्वास और रुढ़ियाँ समाज के लिए सिरदर्द बनी हुई हैं। पढ़े-लिखे लोग भी इनके शिकार हैं। हम दहेज का ही प्रश्न लें। दहेज के कारण युवतियों को यातनाएँ दी जाती हैं, पीड़ा पहुँचाई जाती है और ऐसी स्थिति बना दी जाती है कि वे आत्महत्या कर प्राण देने के लिए मंजबूर हो जाती हैं या उनकी हत्या कर दी जाती है। ऐसा अनपढ़ लोगों में ही नहीं होता, पढ़े-लिखे लोगों में भी होता है। प्रश्न उभरता है कि शिक्षित लोग ऐसा क्यों करते हैं ? इसका एक ही उत्तर है कि उनमें बुद्धि तो है पर अपने संवेग पर नियन्त्रण रखने की क्षमता नहीं है। यहाँ संवेग होता है लोभ का। जब लोभ प्रबल होता है तब बुद्धि उसके नीचे दब जाती है। संवेग और बुद्धि का शाश्वत संघर्ष है। बुद्धि निर्णय लेती है कि यह काम अच्छा नहीं है, नहीं करना चाहिए। किन्तु जब संवेग प्रबल होता है, बुद्धि दब जाती है और कार्य वही होता है, जो संवेग का दबाव होता है।

हम इस सचाई पर ध्यान दें-हम अनजान में गलतियाँ बहुत कम करते हैं। अधिकतर गलतियाँ जानते हुए ही होती हैं। अनजान में चलते-चलते ठोकर लग

सकती है, पर कोई आदमी आत्महत्या करने के लिए पांचवीं मजिल से गिरेगा तो वह अनजान में नहीं गिरेगा। वह तो जानबूझकर ही गिरेगा। कभी चलते-चलते दुर्घटना हो सकती है। पर रेल के सामने जाकर सोना अनजान में नहीं होता। आदमी अधिकांश गलतियां जानबूझकर ही करता है, अनजान में गलतियां कम होती हैं। प्रश्न होता है-आदमी जानबूझकर गलती क्यों करता है ? वह गलती इसलिए करता है कि संवेग पर उसका नियंत्रण नहीं है। संवेग का जैसा दबाव होता है, वह वैसे ही करता है। इसलिए शिक्षा के द्वारा क्या हम अज्ञान को मिटाने का ही प्रयत्न करें या संवेग पर नियंत्रण स्थापित करना भी सीखें ? इसका उत्तर हमें खोजना होगा। यदि हम इस बिन्दु पर ही अटके रह गए कि केवल अज्ञान को मिटाना है, बौद्धिक विकास करना है तो स्वस्थ समाज के निर्माण की कल्पना नहीं की जा सकती और समाज व्यवस्था के परिवर्तन की बात नहीं सोची जा सकती।

### शासन प्रणाली बदलना ही पर्याप्त नहीं

आदमी ने राजतन्त्र को बदला और उसके स्थान पर जनतन्त्र ले आया। पर, हुआ क्या ? प्रणाली बदल गई पर आदमी तो नहीं बदला। जनतंत्र की प्रणाली में सत्ता पर बैठने वाला जानता है कि मैं स्थाई नहीं हूँ, जन्मना शासक नहीं हूँ। मुझे कोई पैतृक अधिकार प्राप्त नहीं हुआ है। पर उसके मन में दूसरी भावना घर कर गई कि जितना अवकाश प्राप्त होता है उतना लाभ उठा लेना चाहिए। राजतंत्र में राजाओं का जो वैभव था, जो ठाटबाट था, आज जनतंत्र के शासक में उससे कम नहीं है, उससे अधिक वैभव और ठाटबाट है। पहले छोटे-छोटे राज्य होते थे, रियासतें होती थीं, सीमित आय और सीमित व्यय होता था। राजस्थान में कितनी रियासतें थी। आज पूरा राजस्थान एक बड़ा प्रांत (राज्य) बन गया। असीम शक्ति केन्द्रित हो गई। आज राजस्थान का जो शासक है, उसके हाथ में अपार शक्ति आ गई, जिसकी कल्पना छोटी-छोटी रियासतों वाले राजा नहीं कर सकते। यह स्थानान्तरण तो हुआ, राजा के स्थान पर दूसरा जनतंत्री शासक आ गया, पर व्यक्त्यंतरण नहीं हुआ, रूपान्तरण नहीं हुआ। व्यवस्था का परिवर्तन तो हुआ, पर हृदय का परिवर्तन नहीं हुआ। प्रश्न है व्यक्तित्व के रूपान्तरण का।

### कोर्स पूरा नहीं है

आज जो प्रश्न धर्म के सामने हैं, वे ही प्रश्न शिक्षा के सामने भी हैं। धर्म के सामने एक प्रश्न आता है कि आज इतने धर्म हैं, धर्मगुरु हैं, प्रवचन और क्रियाकांड हैं, फिर भी आदमी वैसा का वैसा है। अनैतिकता बढ़ी है, घटी नहीं, फिर धर्म की



अर्थवत्ता क्या रही ? उसकी व्यर्थता ही दृष्टिगोचर होती है। इसका कारण यह है कि धर्म का उपदेश करने वाले और सुनने वाले बहुत हैं, पर कोई व्यक्ति कोर्स पूरा नहीं करता। कोर्स पूरा किए बिना वह लाभदायक नहीं होता।

धर्म के कोर्स के तीन घटक हैं-श्रवण, मनन और निदिध्यासन। सुनना, मनन करना और फिर उसका ध्यान या अभ्यास करना। 'सवणे नाणे विष्णाणे पच्चक्खाणे'- यह पूरा कोर्स है। सुनो, जानो, विवेक करो और प्रत्याख्यान करो-हेय को छोड़ो। आज केवल मुना जाता है। अभ्यास नहीं किया जाता। अभ्यास की बात छूट गई। इसीलिए समस्याएं बढ़ रही हैं।

आदमी प्रयोग करना भूल गया, इसलिए धर्म के द्वारा कोई परिवर्तन नहीं हो रहा है। यही बात शिक्षा के क्षेत्र में रही है। शिक्षा में भी सैद्धांतिक पक्ष मजबूत है, पर प्रायोगिक बात नहीं है। सिद्धान्त और प्रयोग-दोनों अभिन्न हैं। इनको अलग नहीं किया जा सकता।

### शिक्षा की सार्थकता : व्यावहारिक सामंजस्य

बौद्धिक विकास के लिए जैसे कठस्थ किया जाता है, अभ्यास किया जाता है, वैसे ही व्यक्तित्व के विकास के लिए भी कुछ अभ्यास करना आवश्यक हो जाता है। विद्यार्थी को अन्ततः समाज में आना है, जीना है, उसे सामाजिक प्राणी बनना है। उसे समाज के साथ संगति बिठाने के लिए, राष्ट्र के लिए प्रामाणिक व्यक्ति साबित होने के लिए, उसे इसी जीवन से अभ्यास करना होता है। विद्यार्थी-जीवन में बालक अपने आपको विद्यार्थी मानकर चलता है। उसका कोई लक्ष्य नहीं होता। शिक्षा के क्षेत्र में मजिल नहीं होती। शिक्षा तो मार्ग है। मजिल तो आखिर समाज है। वहां उसे रहना है। उसके साथ उसे संगति बिठानी है। ऐसा होने पर ही उसकी सार्थकता होगी। जहां समाज में हजारों लोग होते हैं, वहां संवेगों का सामंजस्य अत्यंत आवश्यक होता है। तभी आदमी शांतिपूर्ण जीवन जी सकता है। जहां संवेगों का सामंजस्य नहीं होता, वहां जीवन दूभर बन जाता है। परिवार में भी यदि संवेगों का सामंजस्य नहीं होता है तो रोज की लड़ाई, कलह होता रहता है। पति-पत्नी भी सुख से नहीं जी सकते। सुख से जीने के लिए उन्हें संवेगों पर नियंत्रण पाना है।

कलह, संघर्ष, वैमनस्य आदि इसलिए होते हैं कि व्यक्ति अपने संवेगों पर नियंत्रण नहीं रख पाता। ऐसी स्थिति में पारिवारिक और सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है, सुखी नहीं रह सकता। एक-दूसरे के संवेगों को सहन

करना लोग नहीं जानते। वे कांट-छांट करना नहीं जानते। यह सारा संघर्ष संवेगों का संघर्ष है। मानसिक शांति और विश्वशांति की बात संवेगों के नियमन पर आधारित है। हमें सोचना होगा कि शिक्षा के साथ जैसे बौद्धिक विकास की बात जुड़ी है, वैसे ही उसके साथ संवेग-परिष्कार की बात जुड़े। ऐसा होने पर ही शिक्षा अभ्यासात्मक या प्रयोगात्मक हो सकती है। तभी उसकी सार्थकता होगी।

जीवन-विज्ञान का यही आधार-बिन्दु है। इस बिंदु पर शिक्षा प्रणाली का विकास होने पर शिक्षा का अभूतपूर्व अवदान हो सकता है।

### अभ्यास

१. जीवन विज्ञान की परिकल्पना में मुक्ति की अवधारणाओं को स्पष्ट करें।
२. संवेग नियंत्रण के लिए क्या बौद्धिक विकास पर्याप्त नहीं है ?



**जीवन विज्ञान : स्वस्थ समाज रचना का संकल्प**



## संवेग-संवेद और नियन्त्रण की पद्धति

### असंतुलित संवेग : आपराधिक वृत्तियाँ

मनुष्य में मौलिक मनोवृत्तियाँ और संवेग होते हैं। संवेग जीवन को बहुत प्रभावित करते हैं। इसलिए उन पर अनुशासन करना विकासशील प्राणी के लिए बहुत आवश्यक है। विद्यार्थी के जीवन में इसकी जटिल समस्या संक्रमण-काल में आती है। जब दो अवस्थाओं का संधिकाल होता है तब एक खतरनाक मोड़ उपस्थित होता है। आठ-नौ वर्ष की अवस्था, ग्यारह-बारह वर्ष की अवस्था और सतरह-अठारह वर्ष की अवस्था- ये दो-तीन ऐसे मोड़ हैं जहाँ अत्यन्त सावधानी और सजगता की जरूरत रहती है। शिशु किशोर बनता है। उसकी मांसपेशियाँ शक्तिशाली बनती हैं। जब मांसपेशियाँ शक्तिशाली बनती हैं तब शरीर में शक्ति का प्रारम्भ होता है। यह किशोरावस्था की दहलीज है। इस पर पैर रखते ही कुछ शारीरिक परिवर्तन होते हैं, क्रियाएं बदलती हैं। यौवन के बीज अंकुरित होने लगते हैं और शरीर में उभार आता है। इस अवस्था में भय, क्रोध, मान, अपमान का बोध, सत्कार और तिरस्कार की अनुभूति- ये सारे संवेग प्रबल बनते हैं। यदि इस अवस्था के संवेगों को ठीक ढंग से संभाला जाए, उन्हें अनुशासित किया जाए तो जीवन की गाड़ी ठीक पटरी पर चल सकती है। अन्यथा गाड़ी पटरी से नीचे उतर जाती है।

ये संतुलित संवेग हमारे ग्रंथितन्त्र और नाडीतन्त्र-दोनों को प्रभावित करते हैं। जब ये दोनों तन्त्र संतुलित रहते हैं तब जीवन का क्रम उचित ढंग से चलता है। इसमें विकार होते ही जीवन गड़बड़ जाता है। विकार का मूल कारण है- असंतुलित संवेग। ये विकारों को उत्पन्न करते हैं। एक बच्चा चिड़चिड़े स्वभाव का है, अन्यमनस्क है। इसका कारण क्या है ? कारण है- असंतुलित संवेग। इसके फलस्वरूप बालक में विचित्र प्रकार की जटिल आदतें बन जाती हैं, कामुकता का उभार अधिक हो जाता है, वह अपराध में फँस जाता है।

आज बाल-मनोविज्ञान पर काफी कार्य हुआ है। बाल अवस्था में जो

आदतें बनती हैं, उनके कारण भी खोजे गए हैं।

### ऑब्जेक्ट की स्मृति : सब्जेक्ट की विस्मृति

शिक्षा के क्षेत्र में यह ध्यान देना बहुत जरूरी है कि बालक की आदतें जटिल न बनें और वह विकारों में न फंसे। इसके लिए उसके संवेगों पर ध्यान देना आवश्यक है। जैसे अक्षर-बोध शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। वैसे ही जीवन के निर्माण का बोध भी शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। जैसे भाषा और तर्क का बोध शिक्षा का एक अनिवार्य अंग है वैसे ही जीवन के निर्माण का बोध भी शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। जैसे गणित का ज्ञान शिक्षा का एक अनिवार्य अंग है वैसे ही जीवन-निर्माण का ज्ञान सिखाना भी शिक्षा का अनिवार्य अंग है। अक्षर-बोध, गणित का ज्ञान, भाषा और तर्क का बोध-ये आजीविका चलाने के साधन हैं। ये जीवन के साध्य नहीं हैं। कभी-कभी आदमी साधन को प्रथम मान लेता है और मूल को भुला बैठता है। आदमी का सारा ध्यान साधन पर अटका रहता है। साधन जिसके लिए है, वह उपेक्षित रह जाता है। सब्जेक्ट आंखों से ओझल हो जाता है और सारा ध्यान ऑब्जेक्ट पर अटका रह जाता है। व्यक्ति आग से जलते हुए घर में से सारा कीमती सामान निकाल लेता है, पर उस बच्चे को, जो उस सामग्री का भोक्ता होने वाला है, निकालना भूल जाता है। भोग्य पदार्थ बचा लिया जाता है और भोक्ता आग में जलकर भस्म हो जाता है।

हमारा ध्यान सब्जेक्ट पर, भोक्ता पर नहीं है। सारा ध्यान भोग्य पर, आब्जेक्ट पर केन्द्रित है, साधनों पर केन्द्रित है। यह एक दुर्व्यवस्था है। इसका प्रतिरोध या प्रतिकार बहुत आवश्यक है।

यह नहीं कहा जा सकता-साधनों पर ध्यान नहीं जाना चाहिए। साधन जरूरी है। उन्हें टाला नहीं जा सकता। मुख्य बात यह है कि वे जिसके लिए हैं, वह उपेक्षित नहीं होना चाहिए।

### शिक्षा का उद्देश्य

संवेगों का परिष्कार इसलिए जरूरी है कि यदि बालक अपने विद्यार्थी जीवन में असंतुलित संवेग वाला बन गया तो वह समाज के लिए सिरदर्द बन जाएगा। हम नहीं चाहते कि विद्यार्थी समाज के लिए सिरदर्द बने। आज तो यह स्थिति है कि विद्यार्थी शिक्षा के क्षेत्र में भी सिरदर्द बन जाता है। जो शिक्षाकाल में सिरदर्द बन जाता है, वह आगे जाकर पूरा सिरदर्द बनेगा ही।

इसलिए यह आवश्यक है कि शिक्षा के क्षेत्र में विद्यार्थी के बौद्धिक विकास की तरफ जैसे ध्यान दिया जाता है वैसे ही उसके भावात्मक विकास की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। इसके लिए संवेग का परिष्कार करना बहुत आवश्यक है।

किशोर अवस्था के आते-आते शारीरिक उभार के साथ, अंगों के विकास के साथ, कुछ प्रवृत्तियाँ अनायास बन जाती हैं। इसे नकारा नहीं जा सकता। शिक्षा के क्षेत्र में शरीर-मनोविज्ञान की या जैविक रसायनों के अध्ययन की जो उपेक्षा हुई है उससे शिक्षा का प्रासाद पूरा बना नहीं, अधूरा ही रह गया। शिक्षा का उद्देश्य है- सर्वांगीण विकास। सर्वांगीण विकास में केवल बौद्धिक विकास की बात पर्याप्त नहीं होती।

### सर्वांगीण विकास के घटक तत्त्व

सर्वांगीण विकास के लिए चार बातें आवश्यक हैं-

१. शारीरिक विकास
२. मानसिक विकास
३. बौद्धिक विकास
४. भावनात्मक विकास

आज के विद्यालयों में बौद्धिक विकास पर्याप्त मात्रा में कराया जाता है और शारीरिक विकास के लिए भी छुटपट प्रयत्न चलते रहते हैं। किन्तु मानसिक विकास और भावनात्मक विकास के लिए बहुत कम संभावनाएं रहती हैं। इन दोनों का विकास होना आवश्यक है। इनके विकास का मूल उपाय है-संवेगों का परिष्कार।

भय एक संवेग है। इसके कारण मनुष्य शारीरिक और मानसिक पीड़ाओं को भोगता है। यदि भय और चिन्ता का संवेग टलता है, खतरे की बात कम होती है तो बहुत सारी बीमारियाँ भी टल जाती हैं, मनो-कायिक (साइकोसोमेटिक) बीमारियों में परिवर्तन आ जाता है।

आदमी भय को छोड़ना चाहता है। भय, क्रोध आदि किसी को अच्छे नहीं लगते। बच्चा भी क्रोध करता है, पर वह जानता है कि क्रोध का परिणाम बुरा होता है। क्रोध से झंझट बढ़ता है। माता-पिता को अच्छा नहीं लगता। लड़ाइयाँ होती हैं।

पर प्रश्न है कि क्रोध, भय आदि को कैसे मिटाएं ? कैसे कम करें ?



ज्ञान मात्र से आचरण की दूरी नहीं मिटती। इसके लिए अभ्यास जरूरी है। अभ्यास के लिए ग्रन्थियों का जागरण, चैतन्य-केन्द्रों का जागरण बहुत महत्वपूर्ण है। हमें वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दृष्टि से इन पहलुओं पर विचार करना होगा। आध्यात्मिक दृष्टि यह है कि जिस व्यक्ति का तृतीय नेत्र जागृत होता है, वह अपने भावों पर कन्ट्रोल कर सकता है। तीसरे नेत्र का उद्घाटन और हृदय-परिवर्तन- ये दो माध्यम हैं संवेगों को परिष्कृत करने के लिए।

हम वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें जिस व्यक्ति का पीनियल ग्लेण्ड सक्रिय होता है, वह अपने संवेगों पर नियन्त्रण कर सकता है अथवा हाइपोथेलेमस, जो भाव-संवेदना का केन्द्र है, उसको नियंत्रित करने पर संवेगों पर नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है। इस बिन्दु पर दोनों दृष्टियाँ- आध्यात्मिक और वैज्ञानिक-लगभग समान रेखा पर आ जाती हैं।

### मस्तिष्कीय परिवर्तन के प्रयोग

हृदय-परिवर्तन का अर्थ समझने में इन शताब्दियों में गड़बड़ हुई है। हृदय का अर्थ रक्त का शोधन करने वाला या रक्त को फेंकने वाला अवयव नहीं है। उसका क्या परिवर्तन किया जाय और उसके परिवर्तन से भाव परिवर्तन कैसे हो जाए ? हमने इस पर बहुत विचार और मनन किया। हृदय परिवर्तन के संदर्भ में हृदय का अर्थ है मस्तिष्क का वह भाग जिसे हम 'हाइपोथेलेमस' कहते हैं। एक हृदय है धड़कने वाला, जो फेफड़ों के पास है। एक हृदय है मस्तिष्क में। हमें उसमें परिवर्तन लाना है। यही है हृदय परिवर्तन का रहस्य। मस्तिष्क का जो 'फ्रन्टल लॉब' है, जिसे हम योग की भाषा में शान्तिकेन्द्र कहते हैं, वह हमारे भावों और संवेगों के लिए जिम्मेवार है। यही है ललाट का भाग। जब कभी मन में विनम्रता का भाव जागृत होता है, ललाट झुक जाता है। यह प्रतीक है हृदय परिवर्तन का। इस केन्द्र को जागृत करना है, इसमें परिष्कार लाना है।

दूसरा है पीनियल ग्लेण्ड में परिष्कार लाना। यह ज्योति-केन्द्र का स्थान है। शान्तिकेन्द्र-प्रेक्षा और ज्योतिकेन्द्र-प्रेक्षा- ये दो प्रयोग हैं भाव परिष्कार या संवेग परिष्कार के। इनसे संवेगों को अनुशासित किया जा सकता है। यदि विद्यार्थी को दस-बारह वर्ष की अवस्था से ही प्रयोग कराए जाएं तो उसमें संवेग संतुलन होंगे और वह पारिवारिक और सामाजिक जीवन अच्छे ढंग से जी सकेगा। वह न अति कामुक और न अति चिड़चिड़ा होगा। उसमें न उदासी

होगी और न वह अन्यमनस्कता का शिकार ही होगा।

आज जेनेटिक इंजीनियरिंग में यह चर्चा चल रही है-कुछ दशकों के बाद यह स्थिति बन सकती है कि माता-पिता जैसा लड़का चाहेंगे वैसे लड़के का जीन उन्हें लेबोरेटरी से मिल जाएगा। वकील, डॉक्टर, दार्शनिक आदि के जीन वे खरीद सकेंगे और उन्हीं के अनुरूप बच्चा प्राप्त कर सकेंगे। यह कब संभव होगा, ऐसा निश्चित नहीं कहा जा सकता पर जीन के क्षेत्र में काम करने वाले वैज्ञानिकों का यह अभ्युपगम है, कन्सेप्ट है और वे इसे सत्य करने में जुटे हुए हैं।

विद्यार्थी को बचपन से ही यदि संवेग-परिष्कार का अभ्यास कराया जाए तो माता-पिता की इच्छा को शिक्षक पूरा कर सकेगा। उन्हें एक अच्छा और सुसंस्कृत लड़का मिल जाएगा। यह कोरी कल्पना नहीं है, वैज्ञानिक बात है। आध्यात्मिक और वैज्ञानिक-इन दोनों दृष्टियों से यह प्रमाणित हो चुका है कि आदमी की आदतों को बदला जा सकता है।

संवेग-परिष्कार के दोनों प्रयोग इस दिशा में अचूक प्रयोग हैं। इनके अभ्यास से अनेक क्रोधी और व्यसनी व्यक्तियों ने अपने संवेगों से छुटकारा पाया है। अनेक मद्यपायी और अन्यान्य मादक द्रव्यों का सेवन करने वाले व्यक्ति अपनी आदतों को छोड़कर सुख से जीवन यापन कर रहे हैं। भय की समस्याओं से त्रस्त व्यक्ति इन प्रयोगों से भयमुक्त होकर आज अभय का जीवन जी रहे हैं।

### ग्रन्थि तंत्र का संतुलन

जब संवेग परिष्कृत होते हैं, तब नाडीतंत्र और ग्रन्थीतंत्र का संतुलन बना रहता है। सामान्यतः हमारा यह विश्वास है कि संतुलित भोजन होता है तो जीवन अच्छा चलता है, शक्ति सही ढंग से काम करती है। यह गलत बात तो नहीं है, किन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि संतुलित भोजन होने पर भी यदि पाचनतंत्र संतुलित नहीं है तो भोजन अपना काम नहीं करेगा। जिसका पाचन ठीक नहीं, वह कितना ही अच्छा खाता है, सारा व्यर्थ चला जाता है। प्रश्न होता है कि पाचनतंत्र को ठीक करना पहली बात है या संतुलित भोजन करना पहली बात है ? पहली बात है- पाचन-तंत्र को स्वस्थ बनाना। दूसरी बात है-संतुलित भोजन करना। एक प्रश्न है- क्या ग्रन्थि तंत्र को स्वस्थ रखना पहली बात है या संतुलित भोजन करना पहली बात है? पहली बात है-

ग्रन्थितंत्र को ठीक रखना। दूसरी बात है- संतुलित भोजन करना। यदि ग्रन्थितंत्र संतुलित रहेगा, पैन्क्रियाज ठीक है तो चयापचय की क्रिया ठीक चलेगी, सारी क्रियाएं ठीक चलेंगी। यदि गोनाड्स अनुशासित और संतुलित हैं तो कामुकता नहीं सताएगी।

जब शांतिकेन्द्र सक्रिय होता है तब मनोबल बढ़ता है। यह व्यक्ति हर बात को सहन कर लेता है। उसमें सहने की शक्ति विकसित होती है। अन्यथा सुरुप और सुन्दर दीखने वाले व्यक्ति भी सामान्य परिस्थिति के समक्ष घुटने टेक देते हैं। शरीर से शक्तिशाली होने पर भी उनका मन कमजोर होता है। मनोबल उसका बढ़ता है जिसका ग्रन्थितंत्र संतुलित होता है। महात्मा गांधी का शरीर हड्डियों का ढांचा मात्र था। पर उनका मनोबल इतना मजबूत था कि ब्रिटिश सरकार की सत्ता हिल उठी। उनकी यातनाएं गांधी को विचलित नहीं कर सकीं। इसका कारण यह है कि जिसका ग्रन्थितंत्र और नाडीतंत्र शक्तिशाली होता है, वह व्यक्ति महान् होता है, कुछ करने वाला होता है। मांस, हड्डियां, चमड़ी आदि का सीमित उपयोग है। ये सहायक फेक्टर हैं। मूल तत्त्व है नाडीतंत्र और ग्रन्थितंत्र की सुरक्षा, व्यक्तित्व का निर्माण, अन्तःप्रज्ञा का निर्माण। इन सबका विकास होता है नाडीतंत्र और ग्रन्थितंत्र की संतुलित अवस्था एवं निर्मलता के कारण। हमारा ध्यान इनकी ओर केन्द्रित होना चाहिए।

## रंगों का प्रभाव

संवेग-परिष्कार का तीसरा प्रयोग है- रंगों का ध्यान। अनुप्रेक्षाओं के साथ अनेक रंगों का ध्यान किया जाता है। रंग संवेगों के परिष्कार में बहुत सहायक होते हैं।

एक विद्यार्थी अत्यन्त चंचल है। कहीं टिक नहीं पाता। उसे नीले रंग का ध्यान कराएं। एक सप्ताह के बाद उसमें परिवर्तन आने लगेगा। रूस में इस विषय पर अनुसंधान और प्रयोग किये गये। एक विद्यालय के विद्यार्थी बहुत उद्दंड और चंचल थे। अधिकारियों ने वैज्ञानिक दृष्टि से सब बातों पर ध्यान दिया। उन्होंने वैज्ञानिकों को आमंत्रित किया। वे आए। उन्होंने देखकर कहा- इस मकान की खिड़कियों, दरवाजों, कुर्सियों तथा फर्श पर बिछी कालीनों का रंग गहरा लाल है। यह लाल रंग विद्यार्थियों में उद्दंडता, आवेश और चंचलता पैदा कर रहा है। इस समस्या का सही समाधान है कि लाल रंग को बदला जाए और उसके स्थान पर गुलाबी रंग कर दिया जाए। विद्यालय के अधिकारियों

ने वैसा ही किया। खिड़कियों, दरवाजों आदि को गुलाबी रंग से रंग दिया। कुछ ही समय पश्चात् विद्यार्थियों में परिवर्तन आने लगा। उनकी उद्वेगता और चंचलता कम हो गई।

नीले, पीले और गुलाबी रंग का ध्यान संवेगों पर प्रभाव डालता है, उनका परिष्कार करता है। एक आस्था उत्पन्न करने की आवश्यकता है। एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के निर्माण की जरूरत है। यदि हम इस बात को स्थूल दृष्टि से पकड़ेंगे कि गुलाबी रंग को देखने से क्या होगा ? कैसे दिखेगा गुलाबी रंग ? पर यदि वैज्ञानिक दृष्टि से सोचेंगे तो हम अपने संकल्प के द्वारा वैसा रंग पैदा कर सकते हैं। रंग के परमाणु चारों ओर बिखरे पड़े हैं। जहां प्रकाश है, सूर्य की रश्मियां हैं, वहां चारों ओर रंग ही रंग है। पेड़-पौधों में रंग कहां से आता है ? अंधेरे में हमें कुछ भी दिखाई नहीं देता। सूर्य की रश्मियां आते ही रंग दीखने लग जाते हैं। रंग कहां से आए ? रंग सर्वत्र हैं। पीनियल ग्लेण्ड प्रकाश-संश्लेषी है। वह रंगों को पकड़ता है। वह प्रकाश में अधिक काम करता है। वह प्रकाश को ग्रहण करता है। अर्थात् रंग को ग्रहण करता है। उससे हम अत्यधिक प्रभावित होते हैं। लाल रंग के कमरे में एक सप्ताह रह कर देखें, सिरदर्द से पीड़ित हो जाएंगे। सफेद रंग में ऐसा नहीं होता। काले रंग से जटिलताएं और बढ़ जाती हैं। हमारे में रंगों को पकड़ने की शक्ति है, क्षमता है। रंग संवेगों को उद्दीप्त करते हैं और शांत भी करते हैं। रंगों में उद्दीपक और शामक-दोनों शक्तियां हैं। संवेग परिष्कार में रंग की महत्वपूर्ण भूमिका है।

### विधायक दृष्टिकोण

चौथा प्रयोग है-दृष्टिकोण का विधायक होना। निषेधात्मक दृष्टि कोण से संवेग उद्दीप्त होते हैं। हम विद्यार्थियों में इस प्रकृति को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करें कि उनमें रचनात्मक या विधेयात्मक दृष्टि का जागरण हो। उनकी निषेधक दृष्टि कमजोर हो और विधायक दृष्टि बलवान् बने।

जो अभाव की ओर देखता है, यह निषेधात्मक भावों से भर जाता है। उसे कितना ही मिल जाए उसका नेगेटिव एटीट्यूड कभी नहीं मिटेगा। जिसका एटीट्यूड पोजिटिव हो गया, भावात्मक हो गया, वह व्यक्ति बदल जाएगा।

विधायक दृष्टिकोण के द्वारा संवेगों का संतुलन साधा जा सकता है। जब संवेग संतुलित होते हैं तब चरित्र का विकास होता है, जीवन का निर्माण होता है।

जिस जीवन और समाज की कल्पना की जा रही है, इक्कीसवीं शताब्दी के आदमी की कल्पना की जा रही है, वह आदमी शक्तिशाली तो होगा पर वह निराशा और निषेधात्मक भावों में घिरा रहेगा। अब प्रश्न यह है कि मूल आदमी को शक्तिशाली बनाना है या यंत्र-मनुष्य-रोबोट को शक्तिशाली बनाना है?

यदि रोबोट शक्तिशाली बनेगा तो मनुष्य कमजोर ही बनेगा। आज बौद्धिक व्यक्तियों का यह चिंतन करना है कि रोबोट भले ही बने पर मूल आदमी कमजोर न रहे। इस प्रश्न पर सबको चिंतन करना है। इस प्रक्रिया में संवेग-नियंत्रण और संवेद-परिष्कार की बात बहुत महत्वपूर्ण है।

### सतत क्रिया : संवेद संवर्द्धन

मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है। उसकी श्रेष्ठता का कारण है उसका मस्तिष्क और मेरुदण्ड प्रणाली- स्पाइनल कार्ड सिस्टम। यह उसकी अपनी विशेषता है। उस जैसा विकसित मस्तिष्क, नाडीतंत्र और मेरुदण्ड प्रणाली अन्य किसी को प्राप्त नहीं है। यही कारण है कि वह प्रगति कर सकता है और सफलता के मार्ग पर आगे बढ़ सकता है। यदि आदमी मस्तिष्क की शक्ति का अपव्यय रोक देता है तो वह अपने जीवन में बहुत सफल हो सकता है। संवेदनाओं के कारण शक्ति का अपव्यय बहुत होता है। जब मस्तिष्क इन्द्रियों के साथ चलता है तब शक्तियां क्षीण होती हैं। जब मस्तिष्क इन्द्रियों से परे होता है तब शक्ति का अपव्यय रुक जाता है। आंखें खुली हैं। आदमी इधर-उधर देख रहा है। वह नहीं जानता कि मस्तिष्क को कितना काम करना पड़ता है। उससे शक्तियां क्षीण होती हैं। आज का शरीरशास्त्री और मानसशास्त्री जानता है कि आंख से देखने में तंत्र को कितना प्रयत्न करना पड़ता है। पूरा तंत्र सक्रिय हो जाता है। उसे शक्तियां जगानी पड़ती हैं। निरन्तर क्रियाशीलता शक्ति का अपव्यय करती है। आदमी निरंतर सक्रिय रहता है। सामने कोई चीज आई, आदमी देखने लग जाता है। कुछ आवाज आई, वह सुनने लग जाता है। नाक, कान, आंख, जीभ और त्वचा- ये सारे इतने सक्रिय रहते हैं कि कभी विश्राम लेते ही नहीं। कभी एक संवेद आता है, कभी दूसरा। कभी कोई संवेद उभरता है, सक्रियता बनी रहती है। यह ध्रुव सिद्धांत है कि जहां क्रिया है, वहां शक्ति का सही उपयोग नहीं कर पाते। जो अपनी शक्ति का आवश्यक कार्यों के लिए उपयोग करना चाहता है, आगे बढ़ना चाहता है, उसे संवेदों पर नियंत्रण करना जरूरी है।

## विकास का मार्ग

एक संन्यासी या तपस्वी के लिए संवेद-नियंत्रण करना आवश्यक है। उसे इन्द्रिय-संयम भी करना चाहिए। किन्तु न केवल संन्यासी को, जीवन में सफलता चाहने वाले सभी व्यक्तियों को, एक सीमा तक संवेदनाओं पर नियंत्रण करना चाहिए। जब इंद्रिय-संवेदनाओं पर नियंत्रण नहीं होता तब बहुत सारे बुरे परिणाम आते हैं। जीभ की संवेदनाओं पर नियंत्रण न करने से अनेक बीमारियाँ होती हैं। लगभग पचास प्रतिशत बीमारियाँ जीभ की संवेदनाओं के कारण होती हैं। आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति में भी यह बात पहले से ही मान्य थी, आज एलोपैथिक चिकित्सा-पद्धति में भी यह स्वीकृत हो गई है। हार्ट ट्रबल या ऐसी अन्य बीमारी होने पर डॉक्टर सबसे पहले खाद्य पदार्थों पर प्रतिबन्ध लगाता है। वह कहता है- चिकनाई मत खाओ, घी मत खाओ, नशीली वस्तुओं का सेवन मत करो। बीमारी के साथ भोजन का गहरा संबंध है। भोजन का मानसिक शक्ति के साथ गहरा संबंध है।

दृष्टि का संवेदन है देखना। यह भी एक समझने की बात है कि कब देखना चाहिए ? क्या देखना चाहिए ? आंख के द्वारा पदार्थ के साथ हमारा सम्पर्क स्थापित होता है। हम केवल देखते ही नहीं, ग्रहण भी करते हैं। दृष्टि का संवेदन भावों को बहुत प्रभावित करता है। 'जो देखने योग्य नहीं है, उसे नहीं देखना चाहिए'- यह भारतीय चिन्तन की परम्परा रही है। कहा है- दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्- 'आंखों से देखकर चलो।' यदि आदमी आंखों से देखकर चलता है तो शक्तियाँ कम क्षीण होती हैं। यदि चलते समय कभी इधर और कभी उधर देखते हैं, दूर तक देखते हैं तो मस्तिष्क की बहुत शक्ति क्षीण होती है। देखने का नियम है कि सीधे देखो, दाएं-बाएं देखना उचित नहीं है।

जिस व्यक्ति का अपनी संवेदनाओं पर नियंत्रण होता है वह बहुत आगे बढ़ जाता है। जिसमें नियन्त्रण की पूरी क्षमता नहीं होती, एक सीमा तक होती है, वह मूल स्थिति में कायम रह जाता है। जो संवेदनाओं का दास बन जाता है, वह अपने जीवन की दुर्गति कर बैठता है। उसका अधःपतन होता है। हम इस सचाई का अनुभव करें कि संवेदनाओं पर नियंत्रण किए बिना जीवन में विकास नहीं किया जा सकता। यदि इस स्थिति का साक्षात्कार करना हो तो पश्चिमी जगत् की यात्रा करें। वहां एक नया दर्शन मिलेगा। इतना बौद्धिक विकास, वैज्ञानिक दृष्टि का विकास और धन तथा सुख-सुविधा की सामग्री होने पर भी, इन्द्रियों की उच्छृंखलता के कारण वहां स्थिति अत्यन्त दुःखद

और पीड़ाकारक है। अमेरिका जैसे राष्ट्र में अनेक नगरों की यह स्थिति है कि नागरिक सुबह घर से निकलता है और सायं यदि सकुशल लौट आता है तो वह उस दिन को लाख-लाख धन्यवाद देता है। पता नहीं, कब उसे गोली लग जाए। यह आवश्यक नहीं है कि झगडा होने पर गोली चले। कोई झगडा नहीं, कोई द्वेष नहीं, अकारण ही गोली चली और आदमी मर गया। ऐसा पागलपन छा गया है कि कोई भी, कभी भी किसी की हत्या कर डालता है। यह पागलपन आता है संवेदनाओं के अनियन्त्रण में।

### परिणाम दर्शन

प्रश्न होता है कि संवेदनाओं पर नियंत्रण कैसे करें ? आदमी संवेदनाओं के साथ चलता है, जीता है। ऐसी स्थिति में संवेदनाओं पर नियंत्रण करना सरल बात नहीं है। आज का बच्चा प्रारम्भ से ही इन्द्रिय-संवेदनाओं के साथ जीता है। विद्यार्थी स्कूल से निकलता है तो सीधा ध्यान जाता है सिनेमा घरों पर। घर आता है तो ध्यान जाता है टी०वी० पर। कभी क्रिकेट की कमेन्ट्री सुनता है और कभी फिल्मी गाने। उसका पूरा दिन इन्द्रिय की संवेदनाओं के सहारे बीतता है। धीरे-धीरे वह उसकी प्रकृति बन जाती है। वह परिणाम को नहीं जानता, विपाक को नहीं जानता। किंपाक का फल दीखने में सुन्दर होता है। उसका रंग-रूप मनोहारी होता है। पर उसको खाने का परिणाम है मृत्यु। इन्द्रिय-संवेदनाओं की भी यही स्थिति है। ये संवेदनाएं प्रवृत्तिकाल में सुखद लगती है, पर उनका परिणाम कटु होता है। कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो प्रवृत्ति-काल में अच्छे लगते हैं, पर उनका परिणाम-काल दुःखद होता है। कुछ कार्य प्रवृत्ति-काल में अच्छे लगते हैं, पर उनका परिणाम-काल दुःखद होता है। कुछ कार्य प्रवृत्ति-काल में बुरे होते हैं पर उनका परिणाम सुखद होता है। भारतीय-दर्शन में वही प्रवृत्ति अच्छी मानी जाती है, जिसका परिणाम कल्याणकारी होता है।

इन्द्रिय-संवेदनाओं का परिणाम कभी अच्छा नहीं होता। बच्चा इस तथ्य को नहीं जानता, अतः माता-पिता और शिक्षक को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि उसे यह भान हो सके कि इन्द्रिय-संयम जीवन-विकास के लिए आवश्यक है। बालक की अवस्था परानुशासन की अवस्था है, आत्मानुशासन की अवस्था नहीं है। बालक जब किशोर बन जाए तब उसे परिणाम-बोध देना अत्यन्त जरूरी है। संवेदनाओं पर नियंत्रण पाने का उपाय है-परिणामबोध।

यानि बच्चों को विपाक का बोध कराना, प्रवृत्ति का परिणाम क्या होगा, इसकी अवगति देना बहुत जरूरी है। यह पहला उपाय है- संवेदन-नियंत्रण का।

### दीर्घ श्वास के प्रयोग

संवेदन-नियंत्रण का दूसरा उपाय है- श्वास-नियंत्रण। यही दीर्घश्वास की प्रक्रिया है। श्वास-नियंत्रण का अर्थ है- पूरा गहरा श्वास, दीर्घश्वास। यह एक विद्यार्थी के लिए बहुत जरूरी है, क्योंकि उसके मस्तिष्क के लिए आक्सीजन की बहुत अधिक आवश्यकता होती है। शिक्षा का संबंध है मस्तिष्क के साथ, ज्ञान-ग्रहण का संबंध है मस्तिष्क के साथ। पूरे शरीर को जितना आक्सीजन चाहिए उससे तिगुना आक्सीजन मस्तिष्क को चाहिए। उसकी पूर्ति दीर्घश्वास के द्वारा होती है। उस स्थिति में मस्तिष्क काफी सक्रिय हो जाएगा। उसकी क्षमता का विकास होगा। यदि आक्सीजन पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलेगा तो मस्तिष्क सुचारु रूप से काम नहीं कर पाएगा। विद्यार्थी में आलस्य और प्रमाद बढ़ेगा, उसका मन पढ़ाई में नहीं लगेगा। वह एकाग्र नहीं हो पाएगा। ज्ञान-ग्रहण की शक्ति क्षीण होने लगेगी। इसलिए विद्यार्थी के लिए दीर्घश्वास का प्रयोग बहुत लाभप्रद है। दीर्घश्वास भी लयबद्ध होना चाहिए। लयबद्ध श्वास के दो नियम हैं-

१. जितना समय श्वास लेने में लगे, उतना ही समय श्वास छोड़ने में लगे। प्रत्येक बार यही क्रम चले।

२. श्वास लेने में कम समय और श्वास छोड़ने में अधिक समय लगे। जैसे श्वास लेने में आठ मात्रा का समय लगता है तो छोड़ने में बारह मात्रा का समय लगना चाहिए, जिससे कि कार्बन पूरी मात्रा में निकल जाए। जब कार्बन पूरी मात्रा में निकल जाता है, तब न बेचैनी सताती है और न जम्हाई।

### विज्ञान और अध्यात्म : निष्पत्ति एक है

बच्चा जब १३-१४ वर्ष की अवस्था का होता है तब उसकी थाइमस और पिनियल- ये दोनों ग्रन्थियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं। थाइमस ग्रन्थि के निष्क्रिय होने का परिणाम है- सहनशक्ति, चुस्ती, प्रसन्नता, आनन्द आदि का अभाव। पिनियल ग्रन्थि जब निष्क्रिय हो जाती है तब नियन्त्रण की शक्ति कम हो जाती है। दीर्घश्वास के प्रयोग से बालक अनेक चीजों से बच जाता है। १३-१४ वर्ष की अवस्था में यौन सक्रियता बढ़नी शुरू हो जाती है और



पिनियल निष्क्रिय होती है तब उसकी नियन्त्रण की शक्ति कम होती है और बालक अनेक बुराइयों का शिकार हो जाता है। यह वैज्ञानिक दृष्टि की बात है। अब हम इस पर योगदृष्टि से विचार करें। कामवृत्ति का केन्द्र है- नाभि से गुदा तक का स्थान, उपस्थ का स्थान। यह अपान का स्थान है। जब अपान पर प्राण का नियन्त्रण रहता है तब वृत्तियां शांत रहती है। जब अपान पर प्राण का नियन्त्रण कम हो जाता है तब अधोगामी वृत्तियां सक्रिय होने लगती हैं।

यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि विज्ञान की भी वही निष्पत्ति है और योग की भी वही निष्पत्ति है। दोनों की निष्पत्ति एक है।

दीर्घश्वास से अपान पर नियन्त्रण साधा जाता है। यदि विद्यार्थी को इसका सम्यग् अभ्यास करा दिया जाता है तो वह प्रारम्भ से ही बुरी आदतों में नहीं फंसेगा। वह बुराइयों से बच जाएगा।

एक प्रश्न आता है- बुरे विचार बहुत आते हैं, उन्हें रोकने का क्या कोई उपाय है ?

इसका सीधा-सा उपाय है- दस मिनट तक दीर्घश्वास का प्रयोग। एक मिनट में दो श्वास लें, समस्या हल हो जाएगी। जब-जब बुरे विचार, निम्न वृत्तियां, वासनाएं आक्रमण करती हैं तब तक दीर्घश्वास का प्रयोग कर इनको रोका जा सकता है।

संवेदन-नियन्त्रण का एक उपाय है- प्राणकेन्द्र पर ध्यान करना, यानी नासाग्र पर ध्यान करना। नाक का वासनाओं के साथ गहरा संबंध है। कान और नाक का विकारों के साथ सम्बन्ध है। मस्तिष्क का एक भाग है- एनिमल ब्रेन। इसी के कारण मनुष्य में पाशविक वृत्तियां उभरती हैं। उसका संबंध नाक और इंद्रियों के साथ है। प्राचीन आचार्यों ने इसका अनुभव किया और इस पर विजय पाने के लिए उन्होंने नासाग्र पर ध्यान करने की बात कही। भगवान् महावीर की ध्यानमुद्रा में दोनों आंखें नाक पर टिकी देखी जाती है।

## नई दिशा

हम किसी भी दृष्टि से सोचें- बौद्धिक विकास के लिए या भावनात्मक विकास के लिए, जीविका की सफलता के लिए या सह-अस्तित्व की सफलता के लिए, हमें संवेदों पर नियंत्रण करना होगा। यह एक उपाय है। अनुपाय कुछ भी नहीं है। जिसके पास उपाय नहीं है, वह हजार प्रयत्न करने पर भी सफल

नहीं हो सकता। जिसके पास उपाय है, वह थोड़े समय में ही सफलता की मंजिल तक पहुंच जाता है। इसलिए उपाय को खोजें, अपनाएं और मंजिल तक पहुंचें। संवेदों पर नियंत्रण पाने का मार्ग सबके लिए कल्याणकारी है। यदि विद्यार्थी को उपाय और परिणामबोध से परिचित करा दिया जाए तो न केवल विद्यार्थी-जीवन अच्छा होगा, सामाजिक जीवन भी अच्छा होगा। इस प्रकार हम नई समाज-व्यवस्था में विद्यार्थी को एक घटक के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं, नया मार्ग और नई दिशा उसके सामने रख सकते हैं।

### अभ्यास

१. शिक्षा के साथ संवेग नियंत्रण का अभ्यास क्यों जरूरी है ?
२. संवेगों का परिष्कार या नियंत्रण की प्रक्रिया क्या है ?
३. संवेग नियंत्रण के आध्यात्मिक उपाय क्या विज्ञान सम्मत है ?
४. वैज्ञानिक और व्यावहारिक दृष्टि से संवेदनाओं के नियंत्रण का क्या महत्त्व है ?

## मूल्यपरक शिक्षा : सिद्धान्त और प्रयोग

हमारे दो जगत् हैं। एक है भीतर का जगत् और दूसरा है बाहर का जगत्। भीतर का जगत् बहुत सूक्ष्म है और बाहर का जगत् स्थूल है। बाहर के जगत् से व्यवहार को नापा जा सकता है, देखा जा सकता है। जैसा भाव होता है वैसा व्यवहार होता है। भाव का जगत् सूक्ष्म है। उसे पकड़ना बहुत कठिन है। जैसा स्त्राव होता है वैसा भाव होता है, वैसा ही व्यवहार करते हैं तो भाव और व्यवहार की संवादिता नहीं होती। हमें व्यवहार को बदलना है। विद्यार्थी के व्यवहार में परिवर्तन लाने के लिए ही इस मूल्यपरक शिक्षा की जरूरत है। कुछ समय पूर्व यह नैतिक शिक्षा के नाम से जानी जाती थी। आज नैतिक शिक्षा मूल्यपरक शिक्षा की अविधा से विकसित और प्रतिष्ठित हो गई।

### मूल्य बोध : प्रयोग

जीवन के मूल्यों का अवतरण हो, शिक्षा के साथ मूल्यों का बोध हो तथा विद्यार्थी के जीवन में मूल्यों की प्रतिष्ठा हो, यह वर्तमान की शिक्षा के साथ सुचिंतित विचार चल रहा है। सब चाहते हैं कि विद्यार्थी के जीवन में मूल्यों की प्रतिष्ठा हो।

सत्य का मूल्य है। इसके दो पहलू हैं- भावात्मक और व्यवहारात्मक। सिद्धान्त का ज्ञान कराया जाता है किंतु परिवर्तन की बात बहुत कम होती है। जितनी थ्योरियां हैं, सिद्धान्त हैं, जितना वाङ्मय है, जितने उपदेश हैं, उनका काम है जानकारी दे देना। किंतु उनके भावात्मक परिवर्तन हो या व्यवहार बदले, ऐसा बहुत कम होता है। कभी किसी की बात सुनकर व्यक्ति का मस्तिष्क झुकृत हो उठता है और वह बदल जाता है, पर इसे सामान्य घटना नहीं माना जा सकता।

श्रवण, प्रवचन, वाणियां, सिद्धान्त- आज ये सब देश-काल प्रतिबद्ध हो गए। धर्म-स्थान पर भगवान की पूरी चिंता करना और दूकान, घर या कार्यालय

में उसे भूल जाना-यह आज की प्रवृत्ति है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कोरा सिद्धांत उतना उपयोगी नहीं है, जितना प्रयोग के साथ वह उपयोगी बनता है। भाव-परिवर्तन के लिए सिद्धांत और प्रयोग-दोनों का समन्वय आवश्यक है। सिद्धांत को जाने बिना प्रयोग हो नहीं सकता। इसलिए ज्ञान और क्रिया का समन्वय होना चाहिए। 'पढमं नाणं तओ दया'- पहले ज्ञान और फिर क्रिया, पहले जानो फिर उसका अभ्यास करो।

सिद्धान्त या मूल्य-बोध को व्यर्थ नहीं माना जा सकता। उसकी सार्थकता है। यदि वह कोरा या अकेला है तो सार्थकता आधी हो जाती है। वह पूरी होती है अभ्यास या प्रयोग के द्वारा। पक्षी के दो पंख होते हैं। वह दाएं पंख से उड़ता है या बाएं से ? उत्तर होगा- न वह केवल दाएं पंख से उड़ता है और न वह केवल बाएं पंख से उड़ता है। वह दोनों से उड़ान भरता है। एक पैर से चला जा सकता है, पर वह लंगड़ापन है। दोनों पैरों से ही ठीक चला जा सकता है। सिद्धांत और अभ्यास- ये दो पंख हैं। इनके सहारे से ही ठीक उड़ान भरी जा सकती है। ये दो पैर हैं, इनके सहारे ही ठीक चला जा सकता है।

### अपेक्षित है अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय

जीवन का मूल्य है समन्वय। उसका विकास होना चाहिए। एक ओर वैज्ञानिक है और दूसरी ओर आध्यात्मिक या धार्मिक। यह समन्वय का दूसरा पक्ष है। दोनों में बहुत दूरी है। वैज्ञानिक समझता है कि धर्म कोरा बकवास है और धार्मिक समझता है कि वैज्ञानिक नास्तिक है, व्यर्थ की बातें प्रचारित करता है। किन्तु चिन्तनशील लोग मानते हैं कि अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय होना चाहिए। आज के विद्यार्थी में यह दृष्टिकोण विकसित होना चाहिए। विनोबा बहुत बार कहते- अब धर्म-युग नहीं है, अध्यात्म का युग है, राजनीति का युग नहीं है, विज्ञान का युग है। अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय होना चाहिए। आचार्य तुलसी ने इस बात पर बहुत बल दिया और समन्वय की बात को आगे बढ़ाया। जीवन विज्ञान के पाठ्यक्रम में अध्यात्म और विज्ञान का पूरा समन्वय है। जीवन-विज्ञान प्रशिक्षण की परिकल्पना है- आध्यात्मिक + वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण हो। कोरा आध्यात्मिक व्यक्तित्व या कोरा वैज्ञानिक व्यक्तित्व बहुत लाभदायी नहीं होता। दोनों से समन्वित व्यक्तित्व बहुत लाभप्रद हो सकता है। जीवन-विज्ञान का विद्यार्थी बहुविध ज्ञान

विधाओं का ज्ञान प्राप्त करता है, पर साथ ही साथ प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में पूरे प्रयोग भी करता है। यह है ज्ञान और क्रिया की समन्विति। जैसे मेडिकल साइन्स का विद्यार्थी जानता है कि अमुक-अमुक ग्रंथियां कहाँ हैं ? उनका कार्य क्या है ? इसका उसे पूरा ज्ञान होता है। वह डॉक्टर बन सकता है। पर आध्यात्मिक + वैज्ञानिक नहीं बन सकता। हमें उनके आध्यात्मिक मूल्य की जानकारी भी होनी चाहिए। पिनियल का फंक्शन शारीरिक है, किन्तु उस पर ध्यान- एकाग्रता करने से क्रोध शांत हो सकता है। मेडिकल साइन्स में यह विषय स्पष्ट नहीं है। जोधपुर में मेडिकल कॉलेज के प्रोफेसर ने कहा- हम पिनियल आदि ग्लेण्ड्स के फंक्शन को जानते हैं, किन्तु उनके द्वारा भाव-परिवर्तन किया जा सकता है, यह नहीं जानते। यह एक रहस्य की बात है। जैसे-जैसे आज विज्ञान ने नई खोजें शुरू की हैं, वैसे-वैसे नई बातें सामने आ रही हैं।

एक व्यक्ति के मन में पीड़ा है, शरीर में पीड़ा है, उस समय कोई धार्मिक प्रवचन सुनाया और उसकी पीड़ा शांत हो गई। ऐसे लोगों को भी देखा है, जो केन्सर की बीमारी से आक्रान्त थे। उन्हें भयंकर पीड़ा होती थी किन्तु जब उन्हें धार्मिक गीत और वाणी सुनाई जाती तब ऐसा लगता मानों उनके कोई पीड़ा है ही नहीं। ऐसा होता है, पर कैसे ? यह एक प्रश्न है। वैज्ञानिक जगत् में इसकी सुन्दर व्याख्या प्राप्त है। जब व्यक्ति अपनी श्रद्धा की बात सुनता है, तब मस्तिष्क में प्रशांत भाव जागृत होता है और 'एन्डोर्फिन की मात्रा बढ़ जाती है। वह ऐसा रसायन है जो पीड़ा को शांत करता है, दर्द को कम करता है।

## भाव और व्यवहार

अनुप्रेक्षा भीतर से बदलने की प्रक्रिया है, भाव-परिवर्तन की प्रक्रिया है। स्वतः सूचना के द्वारा भाव-परिवर्तन होता है। घृणा, ईर्ष्या, भय, द्वेष, साम्प्रदायिकता- ये सारे भाव हैं। इनको अनुप्रेक्षा- सजेशन के द्वारा बदला जा सकता है। अभय की अनुप्रेक्षा से भय का भाव शांत हो जाता है। मृदुता की अनुप्रेक्षा से क्रूरता का भाव धुल जाता है।

भाव से व्यवहार बदलता है और व्यवहार से भाव बदलता है। भाव और व्यवहार का गहरा सम्बन्ध है। हम मानते हैं कि जैसा भाव होता है, वैसा व्यवहार बनता है। किन्तु आज की एक पद्धति है, 'बायोफीड'। इसके द्वारा व्यवहार को बदल कर भी भाव को बदला जा सकता है। बाहर के द्वारा

भीतर को बदला जा सकता है और भीतर के द्वारा बाहर को बदला जा सकता है।

### अणुव्रत स्टोर

दिल्ली के स्कूलों में एक बार 'अणुव्रत स्टोर' का प्रयोग किया गया। यहां एक खुले कमरे में पेन्सिलें, कोपियां, पाठ्यपुस्तकें तथा अन्यान्य सामान्य वस्तुएं, जो विद्यार्थियों के उपयोग में आती हैं, रख दीं। सबके मूल्यों की एक सूची टांग दी और विद्यार्थियों से कहा गया कि नियत मूल्य वहां एक पेटी में डालकर वस्तुएं खरीद लें। न वहां कोई निरीक्षक था और न पैसा लेने वाला। यह प्रयोग चला। अप्रामाणिकता की कुछेक छुटपुट घटनाएं सामने आईं, पर अधिकांश विद्यार्थियों ने प्रामाणिकता से काम किया। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यार्थियों में भाव-परिवर्तन हुआ है। यह व्यवहार-परिवर्तन के द्वारा भाव-परिवर्तन का उदाहरण है। जब व्यक्ति एक प्रकार का अभ्यास करता जाता है तब मांसपेशियों का अभ्यास भी भाव को बदल देता है। जिसको हाथ उठाने का अभ्यास होता है, तब उत्तेजना के समय में उसे सोचना नहीं पड़ता कि मुझे हाथ उठाना है, हाथ स्वयं उठ जाता है। मांसपेशियां इतनी अभ्यस्त हो जाती हैं कि सोचने की जरूरत ही नहीं होती। पहले दिन जब नए मकान की सीढियां चढ़ते हैं तब बहुत ध्यान रखना होता है। किन्तु जब हम अभ्यस्त हो जाते हैं तब पांव स्वतः ऊपर चढ़ने-उतरने में स्वलित नहीं होते। मांसपेशियों को अभ्यास हो जाता है।

### मूल विकास : दो पद्धतियां

यह स्पष्ट है कि भाव के द्वारा व्यवहार को और व्यवहार के द्वारा भाव को बदला जा सकता है। हमें विद्यार्थी के व्यवहार को बदलना है तो कुछ प्रयोग करने होंगे। प्रत्येक व्यक्ति में सोचने-समझने की शक्ति होती है और जब कुछ प्रयोग किए जाते हैं तब चेतना बहुत शीघ्र जागृत हो जाती है। बुद्धि-परीक्षा के अनेक प्रयोग किए जाते हैं। उसी प्रकार आदत के परिवर्तन के लिए भी अनेक प्रयोग किए जा सकते हैं। मूल्यों का विकास प्रयोग और अभ्यास के द्वारा हो सकता है। इसलिए प्रयोगों को विकसित किया जाए।

विद्यार्थी के मन में एक भय होता है, स्कूल के प्रति एक भावना होती है। जब उसे यह लगता है कि वहां मेरा स्वागत होता है, सम्मान होता है, मुझे

प्रेम मिलता है, फिर उसके मन का भय भाग जाता है, स्कूल के साथ आत्मीय भाव जाग जाता है। इस प्रकार के व्यवहारिक प्रयोगों के द्वारा भाव-परिवर्तन किया जा सकता है।

मूल्य-विकास के लिए ये दोनों पद्धतियाँ हैं- व्यवहार के द्वारा भावों को बदलना या भावों के द्वारा व्यवहार को बदलना।

जब भाव-परिवर्तन होता है तब व्यवहार अवश्य बदलता है। जैसा भाव होता है, वैसा व्यवहार बनता है। इसके बीच में विज्ञान की एक कड़ी और जुड़ती है कि भाव द्वारा रसायन पैदा होता है। रसायन भाव पैदा करता है। प्रत्येक व्यवहार के पीछे एक रसायन पैदा होता है। क्रोध का रसायन भिन्न होता है और क्षमा का रसायन भिन्न होता है। जितने भाव हैं उतने ही रसायन हैं। भाव के द्वारा रसायन बदलता है और रसायन के द्वारा व्यवहार। व्यवहार-परिवर्तन का भी अभ्यास कराना चाहिए।

## मूल्यपरक शिक्षा

मूल्यपरक शिक्षा के विषय में दो बातों का ध्यान देना चाहिए-

१. सिद्धान्त और प्रयोग का समन्वय।

२. भाव-परिवर्तन के लिए अनुप्रेक्षा के प्रयोग और व्यवहार-परिवर्तन के लिए व्यावहारिक प्रयोग।

ये समन्वित प्रयोग चलने चाहिए। प्रयोग के बिना आदतें बदलती नहीं। विद्यार्थियों को रचनात्मक विकल्प देने से उनमें परिवर्तन घटित होने लगता है। जब बच्चा मिट्टी खाता है, माताएं उसको वंशलोचन देती हैं। बच्चा वंशलोचन खाने लगता है और उसकी मिट्टी खाने की आदत छूट जाती है। रचनात्मक विकल्पों के द्वारा आदतें बदलती हैं।

## व्यवहार परिवर्तन के प्रयोग

एक बच्चे में चोरी की आदत बन गई। वह जब कभी कोई भी चीज चुरा लेता है। उसको कैसे बदलें ? पहली बात है कि उसको चोरी के परिणामों का बोध कराया जाए। दूसरी बात है कि उसको प्रयोग सिखाए जाएं। वह चोरी का निर्णय लेता है चेतन माइन्ड से। दर्शन केन्द्र पर ध्यान कराने से उसकी अन्तर प्रज्ञा जागृत होगी और तब चोरी की आदत छूट जाएगी। यह आन्तरिक प्रयोग है। चोरी छुड़वाने के लिए व्यावहारिक प्रयोग भी कराने चाहिए। ऐसी

चीज उसके सामने रखें कि वह उस चीज को चुराने के लिए लालायित हो जाए। जब वह चोरी करे तो उसे कहें कि चोरी करते हमने देखा है। दो-चार बार ऐसा करने से उसमें अपने आप एक मानसिक भाव पैदा होगा कि मैं चोरी करता हूँ, इसलिए मुझे यह सब सुनना पड़ता है। तब उसमें परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू हो जाएगी। यदि उसको टोका जाता है तो उसे अधिक प्रेरणा मिलती है। हम मूलतः प्रयोग की बात को मूल्य दें। इससे परिवर्तन की संभावना की जा सकती है।

कुछ लोग मानते हैं कि दंड-प्रयोग से भाव-परिवर्तन होता है। दंड-प्रयोग अनुचित ही है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, पर उसकी एक सीमा है। सभी की योग्यताएं होती हैं। इस स्थिति में दंड का भी अपना स्थान है। यदि किसी का मस्तिष्क पगला जाता है, अस्त-व्यस्त हो जाता है तो उसे दंड के भय से व्यवस्थित रखा जा सकता है और यदि उसके साथ मीठी बातें की जाएं तो वह हावी हो जाता है। दंड का प्रयोग एक सीमा तक उपयोगी है।

विद्यार्थी को निरन्तर दंड से गुजरना पड़े, यह भी अच्छा नहीं है और उसे दंड से सर्वथा मुक्त रखा जाए, यह भी अच्छा नहीं है। संतुलन होना चाहिए। यह निर्णय लेने की क्षमता होनी चाहिए कि कब, किसे, कितना दंड दिया जाए।

किसी विद्यार्थी में झूठ बोलने की आदत है। उसे आदत से मुक्त करना है तो पहले उसे झूठ के परिणामों का बोध करना होगा। 'झूठ मत बोलो' यह कहने मात्र से कोई भी इस बुराई से बच नहीं सकता। सौ बार उपदेश देने पर भी वह झूठ बोलना नहीं छोड़ता। यदि उसे अनुप्रेक्षा का प्रयोग कराया जाता है तो झूठ बोलने की आदत में परिवर्तन होने लगता है। अनुप्रेक्षा का सिद्धांत-प्रीक्वेन्सी का, आवृत्तियों का सिद्धांत है। बार-बार उस बात को दोहराने से संस्कार का निर्माण होता है। यही परिवर्तन की प्रक्रिया है।

### समाज है शिक्षा का प्रतिबिंब

शिक्षा बिंब है और समाज उसका प्रतिबिम्ब। शिक्षा का तंत्र यदि मुहांसों से भरा है तो समाज वैसा ही बनेगा, समाज को स्वच्छ नहीं बनाया जा सकता।

आज गरीबी की समस्या, है, जातिवाद और छुआछूत की समस्या है, साम्प्रदायिकता की समस्या है, न जाने कितनी और समस्याएं हैं। इन सबका



कारण यही है कि आज शिक्षा पद्धति सही नहीं है। ये सब समस्याएं कैसे मिलेंगी। समाज को बदलने का एकमात्र साधन है शिक्षा-तंत्र। वहां से विद्यार्थियों में बीज-वपन होता है। शिक्षा बदलेगी तो समाज-व्यवस्था में भी परिवर्तन आएगा। समाज-व्यवस्था को शिक्षा के दर्पण में देखा जा सकता है। समाज परिवर्तन के लिए दो बातें जरूरी हैं- संवेग पर नियन्त्रण और विचारों पर नियन्त्रण की क्षमता का विकास।

विद्यार्थी समाज में आता है, सामाजिक जीवन जीता है। वह आज समाज को अच्छा नहीं बना रहा है। इसका कारण है कि उसमें नियन्त्रण की शक्ति नहीं है। यह शाश्वत सत्य है कि जब तक व्यक्ति में संवेगों, विचारों और वासनाओं पर नियन्त्रण करने की क्षमता नहीं होती, तब तक अच्छा समाज नहीं बन सकता। वह अपराधियों का समाज होगा, स्वच्छ समाज कभी नहीं होगा।

महामात्य कौटिल्य ने लिखा है- शासकों और समाज को इन्द्रियजयी होना चाहिए। उसने यह बात साधना या वीतराग बनने के लिए नहीं कही किन्तु इसलिए कही कि यदि शासक इन्द्रियजयी नहीं होता है तो जनता उत्पीड़ित होती है। यदि वह इन्द्रियजयी है तो जनता सुख-सम्पन्न होती है। शासक-वर्ग की इन्द्रिय-उच्छृंखलता के कारण ही अनेक समस्याएं उभरी हैं। जिस समाज में इन्द्रिय-संयम की बात नहीं होती, उस समाज में चोरियां, डकैतियां, बलात्कार और अपराध बढ़ते जाते हैं।

## शिक्षा का आधार

आज की शिक्षा से बौद्धिक विकास तो पर्याप्त मात्रा में हो रहा है किन्तु चरित्र निर्माण नहीं हो रहा है। इसलिए आचार्य तुलसी ने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया, जिससे कि व्यक्ति अच्छा आदमी, अच्छा नागरिक बन सके, अच्छे समाज का निर्माण हो। उसके लिए आचार-संहिता तैयार हो गई। पर उस आचार-संहिता का क्रियान्वयन कैसे हो, इस चिन्तन के उपक्रम से प्रेक्षाध्यान का विकास हुआ। इसका क्रियान्वयन शिक्षा-जगत् के लिए वरदान है। शिक्षा-जगत् में यह बहुत ध्यान देने योग्य बात है कि शिक्षा का आधार बायोलोजिकल आस्पेक्ट होना चाहिए था। पर आज वह पूर्णतः उपेक्षित हो रहा है। बायोलोजिकल आस्पेक्ट से जब व्यक्तित्व का निर्माण होता है तब बौद्धिक विकास के साथ-साथ चरित्र का भी निर्माण होता है।

दो पक्ष हैं- बौद्धिक विकास और संवेग-नियन्त्रण। बौद्धिक विकास तो

अपनी चरम सीमा पर हैं, किन्तु संवेग-नियन्त्रण अभी बाल्य अवस्था में ही है। आज के विश्वविद्यालयों में विद्या की जो शाखाएं हैं, वे अनगिन हैं, किन्तु संवेग-नियन्त्रण की विद्या को भाग्य-भरोसे छोड़ दिया गया है। यदि हम प्रतिशत में बांटे तो पचास प्रतिशत मूल्य है बौद्धिक विकास का और पचास प्रतिशत मूल्य है संवेग-नियन्त्रण का। बौद्धिक विकास ने अपना पूरा मूल्य पा लिया है। यदि भावनात्मक विकास सध जाता है तो अच्छे समाज के निर्माण में समय नहीं लगता। जीवन-विज्ञान-पद्धति की शिक्षा के द्वारा जिस समाज का निर्माण होगा, उसमें न उत्पीड़न होगा, न जातिवाद की क्रूरता होगी, न छुआछूत होगा और न शोषण की समस्याएं होंगी।

स्वच्छ समाज की परिकल्पना के लिए अणुव्रत आन्दोलन ने जो प्रारूप प्रदान किया है, वह जीवन-विज्ञान के सन्दर्भ में एक विनम्र प्रयत्न है, नया दृष्टिकोण है। जिन लोगों ने केवल समाज-व्यवस्था को बदलने का प्रयत्न किया, उनका अनुभव है—व्यवस्था के बदल जाने पर भी आदमी नहीं बदलता।

आज वहां समाज-व्यवस्था बदली है पर आदमी का हृदय नहीं बदला है, इसीलिए वहां अनेक प्रकार के आर्थिक घोटाले होते हैं जघन्य अपराध होते हैं। तब तक हृदय नहीं बदलता, जब तक संवेग-परिष्कार की भावना नहीं जागती है। संवेग-परिष्कार के बिना बुराइयों से नहीं बचा जा सकता।

यदि समाज को स्वच्छ और अच्छा बनाना है, व्यसन-मुक्त और अपराध-मुक्त बनाना है तो शिक्षा के साथ संवेग-परिष्कार की बात को जोड़ना होगा। इसके सिवाय कोई विकल्प नहीं है। आज विद्यार्थी की अपराधी मनोवृत्ति से समाज के लोग चिन्तित हो जाते हैं। केवल बौद्धिक विकास के कारण विद्यार्थी शस्त्र जैसे बन जाते हैं। धार तेज है। जब धार तेज होगी तो वह काटेगी ही। जब शस्त्र तेज होगा तो वह अपना काम करेगा ही। एक बात है, शस्त्र बने, धार तेज हो, कोई चिन्ता नहीं है, पर उस पर खोल होना चाहिए। खड्ग हो और म्यान न हो तो वह स्वयं को ही काट देता है। बौद्धिक विकास बहुत जरूरी है, पर वह काटे नहीं। नैतिकता का उस पर खोल रहे, नियन्त्रण की क्षमता बढ़े। इस संतुलन की हम कल्पना करें। वह सिद्धान्त और प्रयोग के समन्वय से ही संभव है।

जीव-विज्ञान इसकी पूर्ति का उपक्रम है। इससे शिक्षा का क्षेत्र तेजस्वी बनेगा और नए व्यक्तित्वों का निर्माण होगा।

## अभ्यास

१. 'समाज को बदलने के लिए शिक्षा पद्धति को बदलना जरूरी है' इस अनुच्छेद की मीमांसा करें।
२. आध्यात्मिक-वैज्ञानिक व्यक्तित्व के निर्माण की परिकल्पना क्यों की गयी? क्या जीवन विज्ञान में ऐसे व्यक्तित्व के निर्माण की संभावनाएं हैं ?

## विधायक भाव

भोजन करते हैं, भूख मिटती है। पानी पीते हैं, प्यास बुझती है। हमें सुख का अनुभव होता है। सुख रोटी से मिला, पानी से मिला, और कहीं से आया या हमारे भीतर से निकला ? इस प्रश्न की गहराई में जाने पर ज्ञात होगा कि भूख मिट जाने या प्यास बुझ जाने पर भी सुख नहीं मिलता। इसलिए रोटी खाने और सुख के मिलने में अनुबंध नहीं है। उनमें व्याप्ति नहीं है कि एक के होने पर दूसरा हो ही। पदार्थ के मिल जाने पर भी सुख नहीं होता और न मिलने पर भी सुख हो सकता है। पदार्थ और सुख में कोई व्याप्ति नहीं है, कोई निश्चित नियम नहीं है कि ऐसा होने पर ऐसा होता ही है और न होने पर नहीं होता। एक आदमी बहुत संपन्न है। पास में करोड़ों का धन है, पर स्वास्थ्य ठीक नहीं है। वह दुःख ही भोगता है।

घटनाओं के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि पदार्थ का सुख के साथ अनुबंध नहीं है। सुख का संबंध हमारे संवेदन के साथ है।

### विधायक भाव जागे

एक दृष्टि से सुख-दुःख की यह परिभाषा की जा सकती है कि विधायक भाव का अर्थ है सुख और निषेधात्मक भाव का अर्थ है दुःख। भय, अहंकार आदि निषेधात्मक भाव है। ये सारे दुःख हैं। करुणा, प्रेम, सहृदयता आदि विधायक भाव हैं। ये सारे सुख हैं। वह समाज और व्यक्ति, विकासशील बनता है, जिसे विधायक भाव उपलब्ध है। जिसमें निषेधात्मक भाव है, वह समाज या व्यक्ति कभी विकास नहीं कर सकता। उसमें सदा निराशा बनी रहती है। वैसे व्यक्ति उदासी, निराशा और बैचेनी से ग्रस्त होते हैं। वे व्यक्ति प्रत्येक बात में कमी निकालेंगे, बुराई खोजेंगे।

विधायक दृष्टिकोण से संपन्न व्यक्ति को बुराई नहीं देखती और निषेधात्मक दृष्टि वाले व्यक्ति की अच्छाई का पता नहीं चलता। जहां निषेधात्मक दृष्टि

होती है वहां कलह, संघर्ष और लड़ाइयां पैदा होती हैं। सारी उलझनें इसी की उत्पत्ति हैं।

व्यक्ति के भाव ही अच्छाई और बुराई के लिए, सुख-दुःख के लिए जिम्मेवार हैं। यदि प्रारंभ से ही भावों को सही दिशा मिल जाए तो शायद सुख का सागर हिलोरें लेने लग जाए।

विधायक भाव की जब प्रबलता होती है तब जीवन में आनन्द ही आनन्द होता है, सुख ही सुख होता है। घटनाओं के साथ हमारे सुख-दुःख का संबंध नहीं है। भ्रान्ति के कारण हम मानते हैं कि प्रिय घटना से सुख होता है और अप्रिय घटना से दुःख होता है। भारतीय दर्शनों ने इस भ्रान्ति को तोड़ने का प्रयत्न किया है। सुख-दुःख हमारी आन्तरिक अवस्था है। सुख-दुःख को पदार्थ के साथ जोड़ना बहुत बड़ी भ्रान्ति है।

### जिम्मेवार कौन ?

अध्यात्म की खोज ने हमें बहुत बड़ा संबल दिया था किन्तु आज वह शैक्षणिक जगत् का उपक्रम नहीं रहा, इसलिए दृष्टिकोण भौतिकवादी बन गया है और यही सारी समस्याओं का मूल है। प्रश्न है- यह दृष्टिकोण क्यों बना ? किसने बनाया ? बनाने का दायित्व किस पर है ? दायित्व है धर्म और शिक्षा जगत् पर । तीसरे पर यह दायित्व नहीं आता। दृष्टिकोण का निर्माण या तो धर्म के आधार पर होता है या शिक्षा के आधार पर होता है। भौतिकवादी दृष्टिकोण इसलिए बना कि आदमी ने सत्य की उपेक्षा की। यदि सत्य को समझने और समझाने का प्रयत्न किया होता तो दृष्टिकोण की समस्या को सुलझाने में बड़ा सहयोग मिलता। आज जो समस्या नहीं सुलझ रही है उसका कारण है-मिथ्या-दृष्टिकोण।

### विधायक भाव की निष्पत्ति

धर्म से मिलता है आन्तरिक आनन्द और हमने मान लिया कि धर्म से पदार्थ मिलते हैं, सुख-सुविधाएं मिलती हैं। यह दृष्टिकोण की विपरीतता है। हमें मानना चाहिए कि धर्म की एक सीमा है और पदार्थ की भी एक सीमा है। पदार्थ से सुविधा मिलती है और धर्म से आनन्द मिलता है, आन्तरिक शांति मिलती है, मन शांत होता है। यदि यह दृष्टिकोण स्पष्ट हो तो धर्म के प्रति आस्था बढ़ेगी, पदार्थ की मूर्च्छा घटेगी और भौतिकता की दौड़ कम होगी।

यही विधायक भाव की निष्पत्ति है। शिक्षा जगत् यदि विद्यार्थियों को विधायक भावों के प्रति शिक्षित कर सके तो बहुत बड़ा कार्य हो सकता है। यह कार्य प्रारंभ से ही करने का है। बच्चे विधायक भावों को जब पकड़ लेते हैं, तब उनके संस्कार अच्छे बनने में विलंब नहीं होता। विधायक भावों का विकास होने पर शिक्षा जगत् की अनेक समस्याएं स्वयं समाहित हो जाएगी।

### चिन्तन का कोण

शिक्षा की समस्या तब तक समाहित नहीं हो सकेगी जब तक उसके साथ अध्यात्म-विद्या नहीं जुड़ेगी, ध्यान का प्रशिक्षण नहीं जुड़ेगा। हमारी जो चालू शिक्षा है उसमें शरीर के लिए बहुत व्यवस्था है। रोटी चाहिए उसके लिए व्यवस्था है। कपड़ा चाहिए उसका ज्ञान भी कराया जाता है। और-और पदार्थ चाहिए, उनके लिए भी सारी व्यवस्था है। शरीर को सुविधा देने की पूरी व्यवस्था की गई है, किन्तु शरीर के साथ जुड़ा हुआ है मन। मन के साथ काफी उपेक्षा बरती गई है।

हम प्रायः स्थूल बुद्धि से काम लेते हैं। हमारी सूक्ष्म बुद्धि काम भी नहीं करती और इसलिए नहीं करती कि हम शरीर को केन्द्र में मानकर चल रहे हैं। अगर शरीर परिधि में हो तो कोई कठिनाई नहीं किन्तु शरीर को जब केन्द्र में रखकर सारी समस्याओं पर सोचते हैं और उनका समाधान निकालने का प्रयत्न करते हैं तो समस्याएं उलझ जाती हैं, उनका समाधान नहीं होता। समस्या के समाधान का रास्ता यह है-चेतना केन्द्र में रहे, दूसरी सब बातें परिधि में रहें। चिन्तन का सारा कोण यह हो कि इस प्रवृत्ति की चित्त पर प्रतिक्रिया क्या होगी? जो काम किया जा रहा है, वर्तमान में बहुत अच्छा लग रहा है, पर चित्त पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी? क्या परिणाम होगा? हमारी चेतना पर इसके क्या संस्कार जमेंगे और उनके क्या प्रतिफलन होंगे? यह चिन्तन का दृष्टिकोण समस्याओं को सुलझाने वाला दृष्टिकोण है और शरीर को केन्द्र में रखकर सोचने का दृष्टिकोण समस्याओं को उलझाने वाला दृष्टिकोण है।

### मानसिक समस्याओं का प्रश्न

आज शिक्षा के सामने एक प्रश्न है मानसिक समस्याओं का। जिस शिक्षा के द्वारा हमारी मानसिक समस्याओं का समाधान नहीं होता वह शिक्षा

हमारे लिए वरदान नहीं बनती। केवल पदार्थ मिल जाए, मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाए, मानसिक विकास हो जाए, बौद्धिक विकास हो जाए, इतना ही पर्याप्त नहीं है। मानसिक विकास होना एक बात है और मानसिक समस्याओं का समाधान कर पाना दूसरी बात है। मानसिक विकास होता है, स्मृति बढ़ती है, चिन्तन की शक्ति बढ़ती है, कल्पना की शक्ति बढ़ती है। एक अनपढ़ आदमी जितना चिन्तन नहीं कर सकता है, पढ़ा-लिखा आदमी बहुत अच्छे ढंग से चिन्तन कर सकता है। एक अनपढ़ आदमी जहां परिकल्पना नहीं कर सकता, योजना नहीं बना सकता वहां एक शिक्षित व्यक्ति अच्छी कल्पना करता है, सुन्दर योजना बना सकता है।

स्मृति की तीव्रता, चिन्तन की दक्षता और कल्पना की पटुता आ गई तो मानसिक विकास हो गया। इसका दूसरा पहलू भी है—जितना मानसिक विकास होता है उतनी मानसिक उलझनें बढ़ती हैं। स्मृति भी कम मानसिक उलझन नहीं होती। पशु की स्मृति बहुत तात्कालिक होती है तो मानसिक उलझनें भी नहीं होतीं। बच्चे की स्मृति भी तात्कालिक होती है। बहुत लम्बे समय तक बात याद नहीं रहती। बच्चा एक मिनट में रोता है और एक मिनट में हंसने लग जाता है। बड़ा ऐसा नहीं कर सकता, बच्चा कर सकता है। एक कोई चीज हाथ में थमा दो, शांत। छीन लो, रोने लग जाएगा। फिर दे दो हंसने लग जायेगा। एक मिनट में बच्चा दो-चार बार बदल जाता है। इसलिए कि उसकी स्मृति की तीव्रता अभी नहीं हुई है। स्मृति बहुत क्षणिक है बच्चे की। ऐसी स्मृति नहीं है कि एक बात को याद कर लिया तो कर ही लिया। दस वर्ष बीत जाए, घटना सामने आएगी तो तत्काल स्मृति दौड़ आएगी और कोई न कोई अवरोध पैदा हो जाएगा। स्मृति का भार आदमी ढोता है। स्मृति से वह दुःखी बनता है, स्मृति जहां मानसिक विकास है वहां स्मृति बहुत सारी समस्याओं को पैदा करने का एक बहुत बड़ा कारण भी है।

चिन्तन भी विकास का मानदण्ड है, किन्तु चिन्तन समस्याएं पैदा करने वाला भी है। न जाने हमारी कितनी समस्याएं चिन्तन के द्वारा ही पैदा होती हैं। यदि अचिन्तन की बात हो तो समस्या नहीं होती। चिन्तन इतना होता है कि वह सोचना स्वयं समस्या बन जाता है और सोचना स्वयं समस्या पैदा करने लग जाता है। आदमी सोचता चला जाता है फिर भी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचता।

## काल्पनिक समस्याएं

कल्पना जहां मानसिक विकास है वहां बहुत बड़े संकटों का कारण भी है। यदि कल्पना का संयम हो जाए तो बहुत सारी मानसिक समस्याएं सुलझ जाएं। कल्पना के द्वारा समस्याएं बहुत उलझती हैं।

काल्पनिक समस्याएं जटिल भी होती हैं। यदि वास्तविक समस्याएं हों तो सुलझाने में बहुत समय नहीं लगेगा। किन्तु हमारी समस्या ही जब काल्पनिक बन जाती है तो फिर सुलझाने का रास्ता भी जटिल हो जाता है।

हम यदि सचमुच अध्ययन करें तो पता चलेगा कि प्रायः समस्याएं काल्पनिक होती हैं। चाहे पारिवारिक हों, चाहे संस्थागत हों, चाहे राष्ट्रगत हों, अधिकांश कल्पनाएं यथार्थ नहीं होतीं और वे समस्याएं बन जाती हैं। वास्तविक समस्याएं बहुत थोड़ी होती हैं। पिता के मन में पुत्र के प्रति कल्पना ज्यादा काम करती है। अच्छा मानता है, बुरा मानता है उसके पीछे कल्पना का बहुत बड़ा हाथ होता है। चाहे भाई-भाई का संबंध या अन्य कोई भी संबंध हो। जहां दो जुड़ते हैं उनके बीच में कल्पना की एक दीवार हमेशा रहती है। वह कल्पना की दीवार टूट जाए, व्यक्ति साक्षात् हो जाए तो पता चलेगा कि समस्याएं तो बहुत कम हैं।

कल्पना का विकास होना मानसिक विकास है तो कल्पना का होना मानसिक समस्याओं का होना भी है। विकास के साथ समस्याएं पैदा होती हैं। आग के साथ धुआं भी पैदा होता है, उसके रोका नहीं जा सकता। यह अनिवार्यता है। विकास के साथ समस्याएं पैदा होती हैं। उन समस्याओं से निपटने के लिए हमारी लौकिक शिक्षा में कोई व्यवस्था नहीं है। यह शिक्षा का एकांगीपन है। यदि सर्वांगीण होती तो अध्यात्म की शिक्षा, ध्यान की शिक्षा उससे पृथक् नहीं होती। अपने जीवन को समझने के लिए, अपने मन की समस्या को समझने के लिए और अपनी मानसिक समस्या का समाधान खोजने के लिए जो चाहिए, वह हमारी शिक्षा में नहीं है।

## परिवर्तन का सूत्र

समस्याओं का समाधान होता है परिवर्तन के द्वारा। परिवर्तन होना चाहिए। केवल शाब्दिक परिवर्तन नहीं, जो हमारे भीतर है वह बदलना चाहिए। जो हमारे जीवन को सबसे ज्यादा प्रभावित करता है उसमें परिवर्तन आना चाहिए।



दर्शन की भाषा में कहूँ तो कर्म का विपाक, प्राचीन योग की भाषा में कहूँ तो अमृत, सोमपान और आज की भाषा में अन्तःस्त्रावी ग्रंथियों का स्त्राव-यह मनुष्य को सबसे ज्यादा प्रभावित करता है। कर्म का विपाक जिस-जिस क्षण में आता है व्यक्ति को प्रभावित करता है। इसलिए कोई आदमी एक जैसा नहीं होता। पत्थर का टुकड़ा एक जैसा मिल सकता है। लंबे समय तक वैसा ही मिल सकता है। पर कोई भी चेतन प्राणी और विशेषतः मनुष्य एक जैसा नहीं मिलता। प्रातःकाल में मनुष्य का जैसा चित्र था, सायंकाल तक उसमें हजारों मनुष्य पैदा हो गए। मनुष्य में हजारों मनुष्य पैदा हो गए। न प्रजनन की जरूरत, न माता-पिता की जरूरत, न कृत्रिम गर्भाधान की जरूरत। आदमी में हजारों आदमी एक दिन में पैदा हो जाते हैं। जिस व्यक्ति को सूर्योदय के समय देखा, उस व्यक्ति का यदि फोटो लिया जाए, दो मिनट के बाद उस व्यक्ति को देखा जाए और उसका फोटो लिया जाए तो पता चलेगा कि यह तो दूसरा आदमी है। इतना भीतर में बदल रहा है कि चेतन के लिए कोई नियंत्रण नहीं किया जा सकता, नियम नहीं बनाया जा सकता। विज्ञान ने पदार्थ-जगत् के लिए बहुत सारे नियम खोजे हैं किन्तु प्राणी-जगत् के लिए उनके नियम काम नहीं दे रहे हैं। यही तो मनुष्य की स्वतंत्रता है। वह जड़ पदार्थ नहीं, जो ढले की भांति फेंकने पर ऊपर चला जाए और वापस नीचे गिर जाए। मनुष्य जड़ नहीं है। जड़ का नियम एक होता है और चेतन का नियम दूसरा होता है। चेतन में स्वतंत्र अस्तित्व होता है। उसकी स्वतंत्र सत्ता होती है। वह अपनी स्वतंत्रता का उपयोग करता है। जब अपनी स्वतंत्रता का उपयोग करता है, उस समय कोई उसके लिए सार्वभौम नियम काम नहीं देता। जो सर्वथा परतंत्र है, जिनमें अपनी क्षमता नहीं, अपनी स्वतंत्रता नहीं, उन्हें नियम के द्वारा बांधा जा सकता है और उनके लिए कोई सार्वभौम नियम बन सकता है, किन्तु स्वतंत्रता से परिवर्तित होने वाले मनुष्य के लिए कोई सार्वभौम नियम नहीं बन सकता।

### ध्यान की शिक्षा का उद्देश्य

मनुष्य की अपनी स्वतंत्रता है। उस स्वतंत्रता को उभारना, उसे विकसित करना, यह ध्यान की शिक्षा का मुख्य तत्त्व है। ध्यान करने का अर्थ केवल आंखें बंद कर बैठ जाना ही नहीं है। केवल कुछ क्षणों के लिए विश्राम ले लेना ही नहीं है, केवल मानसिक भार को कम कर देना मात्र नहीं है। ऐसी

बातें होती हैं, किन्तु ये सारे मुख्य लक्ष्य नहीं हैं। ध्यान की शिक्षा, ध्यान के अभ्यास का मुख्य लक्ष्य है-चेतना की स्वतंत्रता को अनन्त आयाम देना। इतना बड़ा आयाम देना कि हमारी जो स्वतंत्रता है उसके सारे बंधन टूट जाएं और स्वतंत्रता अपने पूरे रूप में विकास पा सके। यह है ध्यान की शिक्षा का उद्देश्य। उसके लिए आंतरिक स्रावों पर अनुशासन करना बहुत जरूरी है।

## रस के स्राव

जैन आचार्यों ने विस्तार के साथ कर्म-विपाकों का वर्णन किया। इतना बड़ा वर्णन भारतीय साहित्य में तो क्या, विश्व साहित्य में भी नहीं मिलता। इतना विवेचन किया है कर्म-विपाक का। यह कर्म-विपाक आज के विज्ञान की भाषा में अन्तःस्रावी ग्रन्थियों का स्राव है। रसायन है कर्म का-अनुभाग बन्ध। कर्म का जो रस आता है बाहर, वह हमारी चेतना को प्रभावित करता है। वह रस आता है ग्रन्थियों के माध्यम से। हटयोग ने इसे अमृत कहा है। गोरक्ष पद्धति में, हट-योग के अन्य ग्रन्थों में, इस स्राव की बहुत चर्चा मिलती है। अमृतपान की चर्चा मिलती है, सोमरस की चर्चा मिलती है। सोमरस क्या है ? यह है हमारे मस्तिष्क से होने वाला स्राव। तालु की समरेखा में अमृत का स्राव होता है, यह गोरक्ष पद्धति का एक उल्लेख है। यह स्राव पीनियल का स्राव है, पिच्यूटरी का स्राव है, क्योंकि समरेखा में ये दोनों प्रकार के स्राव होते हैं। ये स्राव हमें प्रभावित करते हैं। आज का शरीर-विज्ञानी बतलाएगा - जब तक हाईपोथेलेमस, पिच्यूटरी या पीनियल से हारमोंस का स्राव नहीं होता है तब तक एड्रीनल, गोनाडस आदि कुछ भी काम नहीं कर पाएंगे। ये वहां से अपना स्राव करते हैं, तब एड्रीनल में वृत्तियां जागती हैं और गोनाडस में वासना जागती है। काम का होना, वृत्तियों का विकसित होना- इन पर निर्भर है, किन्तु ये निर्भर हैं ऊपर के स्रावों पर। उन स्रावों पर जब अनुशासन हो जाता है तब वृत्तियों पर अनुशासन हो सकता है।

## विचारों का असंतुलन

अनुभव की बात यह है- हजार बार कहने से जो काम नहीं होता, वह एक स्राव को बदल देने से हो सकता है। हजार बार कहा जाए कि गुस्सा मत करो, फिर भी गुस्सा छुड़ाने में सफलता नहीं मिलती, जब तक भीतर का स्राव नहीं बदल जाता। बेचारा करे क्या ? स्राव इतना प्रभावित करता है मस्तिष्क

को कि जो बात शिक्षा की कही जाती है, वह तो टिकती नहीं है। उसे स्थान ही नहीं मिलता। एक भाई ने बताया कि पांच, दस दिन होते हैं, दिमाग में एक भार-सा हो जाता है, तनाव-सा हो जाता है, बहुत गुस्सा आने लग जाता है। ऐसा इसलिए होता है कि भीतर के स्त्रावों का संतुलन नहीं है। हमारी ग्रन्थियों के स्त्राव का संतुलन बिगड़ा हुआ है। किन्हीं वृत्तियों के कारण यदि बार-बार ध्यान पेट पर, पेड़ू पर, नाभि या पेट के नीचे के भाग पर जाएगा तो ग्रन्थियों का संतुलन बिगड़ जाएगा। आज के वैज्ञानिक इस बात को स्वीकार कर चुके हैं कि अच्छे और बुरे विचार के द्वारा ग्रन्थियों में असंतुलन पैदा होता है। बुरे विचारों से स्त्राव बिल्कुल दूसरे प्रकार के होंगे। ज्यादा डर लगता है तो हमारा सेंट्रल नर्वस् सिस्टम बिलकुल असंतुलित हो जाता है। क्रोध की मात्रा ज्यादा होती है तो सारा ग्रन्थितंत्र अस्त-व्यस्त हो जाता है। मस्तिष्क के स्नायु भी अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। इनका संबंध जुड़ा हुआ है विचारों के साथ। बुरे विचार को छोड़ना धर्म और अध्यात्म की ही बात नहीं है, अपने स्वास्थ्य की भी बात है।

### स्त्राव: परिवर्तन का उपाय

विचार हमें प्रभावित करते हैं। जिस प्रकार हमारा विचार होता है उस प्रकार के परमाणु का हम आकर्षण करते हैं। बुरा विचार होता है तो बुरे विचार के परमाणु आते हैं, अच्छे विचार होते हैं तो अच्छे विचारों के परमाणु आते हैं। जो बुरे प्रकार के परमाणु आते हैं। वे सबसे पहले हृदय पर आघात पहुंचाते हैं, चोट पहुंचाते हैं। हृदय बैठ जाता है। बुरे विचारों को बदलना और अच्छे विचारों को लाना बहुत अच्छी बात है। प्रश्न तो फिर वही रहा कि हम चाहते हैं कि बुरे विचार छूटें, अच्छे विचार आएँ, पर कैसे आएँ ? प्रश्न तो है कि वे आएँ कैसे ? दुनिया में सबसे बड़ा प्रश्न है- कैसे और क्या ? इनकी व्याख्या तो बहुत मिलती है हमारे शाब्दिक जगत् में, किंतु कैसे हो, इसकी चर्चा शाब्दिक जगत् में कम है, अनुभव के जगत् में ज्यादा है। दीर्घश्वास प्रेक्षा स्त्राव को बदलने का बहुत सीधा-सा उपाय है। दीर्घश्वास का प्रयोग शुरू किया, स्त्राव बदलने लग जाएगा। श्वास की क्रिया जैसे-जैसे मंद होती है हमारी चेतना वर्तमान में आ जाती है। चेतना को वर्तमान में लाने का बहुत अच्छा साधन है-श्वास का अभ्यास।

## वर्तमान में जीने का प्रयोग

श्वास वर्तमान में होता है। यदि कोई आदमी पीछे से आकर नाक बन्द कर दे तो वह कहेगा-भले आदमी! मेरा नाक क्यों बन्द करते हो ? श्वास लेने में मुसीबत आ रही है वह कहेगा, अरे! दो मिनट पहले श्वास ले रहे थे, एक मिनट पहले श्वास ले रहे थे, एक घंटे से श्वास ले रहे हो, अब नहीं लो तो क्या बात है? क्या यह तर्क चल सकता है ? भोजन दो घंटा पहले किया, अभी भूख नहीं लग रही है, क्योंकि भोजन का प्रभाव अभी बचा हुआ है। पर श्वास में यह तर्क नहीं चलता। जिस क्षण में श्वास नहीं मिलता, आदमी छटपटाने लग जाता है। श्वास वर्तमान का सबसे अच्छा प्रतिनिधित्व करने वाला तत्त्व है। जिसको वर्तमान में जीना है उसे श्वास को समझना ही पड़ेगा। जो श्वास का मूल्यांकन नहीं करता वह या तो अतीत में जीता है या भविष्य में जीता है, वर्तमान में नहीं जीता। वर्तमान में जीने का सबसे पहला सूत्र है-श्वास। जिस व्यक्ति ने श्वास को पकड़ा उसने अपनी चेतना को वर्तमान का आयाम दे दिया। जिसकी चेतना वर्तमान में रहेगी, वह न अतीत की स्मृतियों में उलझेगी, न भविष्य की कल्पना में उलझेगी। जिसकी चेतना वर्तमान में रहने लग गई, उस व्यक्ति ने अपने स्रावों पर नियंत्रण की चाबी अपने हाथ में ले ली।

जो काम विचार नहीं कर सकते, वह काम वर्तमान की चेतना कर सकती है, चित्त कर सकता है चेतना का जैसे ही परिवर्तन हुआ, स्राव का परिवर्तन हो जाएगा और स्राव का परिवर्तन हुआ तो वृत्तियों का परिवर्तन हो जाएगा। इस पूरे परिवर्तन के लिए हमें मानसिक समस्याओं को समझना, उनके स्वरूप, उनकी क्रिया, उनके स्रोत, उनके पीछे रहे हुए स्राव को समझना और स्राव को बदलने की प्रक्रिया को समझना होगा, यह पूरी श्रृंखला जब हमारे हाथ में आती है तब व्यक्ति अपना भाग्य-विधाता एवं अपने व्यक्तित्व का निर्माता बन जाता है। इसके लिए आवश्यक है-शरीर का शिथिलीकरण, मौन, मन की एकाग्रता और निर्विचारता। जो निर्विचारता का मूल्य होता है वह विचार का नहीं होता, जो विचार का होता है वह भाषा का नहीं होता और जो भाषा का होता है वह क्रिया का नहीं होता। निर्विचारता की स्थिति चेतना की सबसे बड़ी स्थिति है। इस स्थिति में जो भाव उपजता है, वह विधायक भाव ही होता है।

## अभ्यास

१. भोजन करने से भूख मिटती है, पानी पीने से प्यास बुझती है और सुविधाओं के मिलने से सुख मिलता है फिर सुख का अनुबंध पदार्थ के साथ कैसे नहीं है ?
२. मानसिक समस्याओं का समाधान किस भूमिका पर खोजा जाना चाहिए?
३. न चाहते हुए भी गुस्सा आ जाता है और कभी-कभी बहुत जल्दी मन बेचैन हो उठता है, मन टूट जाता है-ऐसा क्यों होता है ? आध्यात्मिक और वैज्ञानिक दोनों दृष्टियों से स्पष्ट करें ।

## जीवन-विज्ञान : मस्तिष्क प्रशिक्षण की प्रणाली

१. मस्तिष्क में असीम शक्ति है।

२. उसको जागृत किया जा सकता है।

३. शक्ति की जागृति तनाव और थकान के बिना की जा सकती है।

४. मस्तिष्क विद्या के अनुसार मस्तक का बायां भाग तर्क, गणित, भाषा और भौतिक विचार के लिए उत्तरदायी है। उसका दायां भाग आध्यात्मिक जागृति, अन्तःप्रज्ञा, स्वप्न और कल्पना के लिए उत्तरदायी है। जीवन-विज्ञान की शिक्षा प्रणाली इन दोनों के सन्तुलित विकास की पद्धति है।

५. अनुकंपी नाडीतंत्र (पेरासिंपेथेटिक नर्वस् सिस्टम) की अति सक्रियता से व्यक्ति आक्रामक, उद्दण्ड बनता है, बेचैनी का अनुभव करता है। परानुकंपी नाडीतंत्र (सिंपेथेटिक नर्वस् सिस्टम) की अति सक्रियता से व्यक्ति डरपोक, दबबू हीनभावना से ग्रस्त होता है। यह स्नायविक असंतुलन है। जीवन-विज्ञान इन दोनों के संतुलन की पद्धति है।

६. विवेक (रीजनिंग माइंड) और संवेग (इमोशन) में संघर्ष रहता है। विवेक कहता है यह काम गलत है, नहीं करना है। संवेग प्रबल होता है, उसे करा देता है। इसलिए ज्ञान और आचरण की दूरी बनी रहती है।

जीवन-विज्ञान संवेग नियंत्रण की पद्धति है।

७. संवेद (सेंस एनर्जी) निरन्तर क्रियाशील रहते हैं, इससे शक्ति का बहुत अपवय होता है। अति सक्रियता से मस्तिष्क और मेरुदण्ड प्रणाली पर दबाव पड़ता है। उससे स्वचालित नाडीतंत्र की प्रणाली पर दबाव पड़ता है।

जीवन-विज्ञान संवेद-नियंत्रण की पद्धति है।

८. प्रमस्तिष्क (सेरेब्रम) में शक्ति संचित है। अनुमस्तिष्क (सेरेबेलम) उसका नियंत्रण करने वाला है। उसके द्वारा शक्ति प्रवाहित होकर सुषुम्नाशीर्ष (मेडुलाआंबलागेटा) में जाती है। वहां से यह मेरु में जाती है। वहां से शरीर की सारी प्रतिक्रियाएं चालू होती हैं।

जीवन-विज्ञान के द्वारा चेतना-प्रक्रिया (कांसस एक्टिविटी) को कम कर बिंब प्रक्रिया (रिपलेक्स एक्टिविटी) को बढ़ाया जा सकता है, जिससे मस्तिष्क पर दबाव न पड़े।

९. पीनियल ग्लैंड की निष्क्रियता से नियंत्रण की क्षमता कम हो जाती है। थाइमस ग्लैंड की निष्क्रियता से आनन्द की अनुभूति में कमी आ जाती है, बाहर की ओर झुकाव बढ़ जाता है।

१०. व्यवहार और आचरण का मुख्य आधार भावधारा है। भाव दो भागों में विभक्त है- विधेयात्मक (पोजिटिव) और निषेधात्मक (नेगेटिव)।

मनोविज्ञान के अनुसार इसका विश्लेषण इस प्रकार है-

### विधेयात्मक

(आचार/व्यवहार)

भाव	व्यक्तित्व	परिणाम
विश्वास	उत्साही	सफलता
अभय	आशावादी	समादर
धैर्य	प्रसन्न	निश्चितता
सहिष्णुता	तनावमुक्त	आंतरिक शांति
मृदुता	विनयशील	मैत्री
श्रद्धा	सहृदय	स्वस्थता
निष्ठा	सहानुभूतिपूर्ण	सुख
सामंजस्य	वीरतापूर्ण	विकास
पारस्परिक समझ	अनुशासनबद्ध	साहस
आदि-आदि	आदि-आदि	प्रेम आदि-आदि

### निषेधात्मक

(आचार/व्यवहार)

भाव	व्यक्तित्व	परिणाम
घृणा	दुर्बल	कुण्ठा
ईर्ष्या	कठोर	निराशा
संदेह	उद्धण्ड	लाचारी
लोभ	नीरस	उद्विग्नता

माया	चिड़चिड़ा	दुःख
दीनता/हीनता	रूखा	असफलता
छिद्रान्वेषण	आलसी	रुग्णता
अहं	डांवाडोल	दरिद्रता
आग्रह	धोखेबाज	थकावट
द्वेष	स्वार्थी	ऊब
आदि-आदि	आदि-आदि	असंतोष आदि-आदि

जीवन-विज्ञान के द्वारा विधेयात्मक भाव का विकास कर निषेधात्मक भाव से मुक्ति पाई जा सकती है।

### शीघ्र अधिगम की पद्धति

तनाव की अवस्था में ग्रहणशीलता और स्मृति प्रभावित होती है। जीवन-विज्ञान तनावमुक्ति की प्रक्रिया है। इससे ग्रहण की क्षमता बढ़ती है, स्मृति का संवर्धन और बौद्धिक विकास होता है। विद्यार्थी को कायोत्सर्ग (शिथिलीकरण) की अवस्था में पढ़ाया जाए तो वह अपने विषय को शीघ्र ग्रहण कर सकता है। यह शिक्षा की 'सद्योग्रहण' पद्धति है। इसमें विद्यार्थी को तन्द्रा की अवस्था में ले जाना और अध्यापक द्वारा पाठ का लयबद्ध उच्चारण करना बहुत अपेक्षित है। वह उच्चारण सुझाव (सजेशन) के रूप में प्रस्तुत किया जाए। इसमें संदेश-पद्धति बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। उसके द्वारा चेतन और अचेतन मन के बीच संवाद स्थापित किया जा सकता है।

स्मृति-संवर्धन और ग्रहण-क्षमता का मौलिक आधार है- लयबद्ध श्वास। लयात्मक श्वास के द्वारा मस्तिष्क को पर्याप्त ऑक्सीजन मिल जाती है। जब मस्तिष्क कार्यरत होता है, तब उसे शरीर से तिगुने ऑक्सीजन की जरूरत होती है, लयबद्धश्वास के द्वारा मानसिक और भावनात्मक तनाव कम होता है और ध्यान अपने भीतर की ओर आकर्षित होता है। पाठ पढ़ते समय श्वास का संयम (कुम्भक) हो तो वह अधिक प्रभावी बनता है।

जीवन-विज्ञान मस्तिष्क प्रशिक्षण की पद्धति है। उसके तीन अंग हैं-

१. संवेद-नियंत्रण पद्धति
२. संवेग-नियंत्रण पद्धति
३. विचार-नियंत्रण पद्धति

उसके साध्य तत्त्व सात हैं-

१. श्वास नियंत्रण
२. शरीर नियंत्रण



- |                         |                             |
|-------------------------|-----------------------------|
| ३. चैतन्य-केन्द्र जागरण | ६. सामुदायिक चेतना का विकास |
| ४. स्वभाव परिवर्तन      | ७. रचनात्मक शक्ति का विकास  |
| ५. आभामंडलीय निर्मलता   |                             |

उसके साधक तत्त्व पांच हैं-

- |                            |                                      |
|----------------------------|--------------------------------------|
| १. श्वास-प्रेक्षा          | ४. अनुप्रेक्षा (संदेश और अनु-चिन्तन) |
| २. शरीर-प्रेक्षा           | ५. लेश्या-ध्यान (आभामंडल का ध्यान)   |
| ३. चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा |                                      |

अनुप्रेक्षा मस्तिष्क प्रशिक्षण की पक्रिया है। उसमें पुनरावृत्ति की जाती है। संस्कार निर्माण के लिए एक मास से तीन मास तक प्रतिदिन ५० से १०० आवृत्तियों की जाती हैं। शिक्षण के लिए ३२ से ५० आवृत्तियां करना आवश्यक है।

मस्तिष्क प्रशिक्षण प्रणाली के द्वारा मस्तिष्क और शरीर को प्रतिदिन नियन्त्रित (या सूचना द्वारा सूचित या निर्दिष्ट) कर स्वास्थ्य को नियमित किया जा सकता है।

इसके द्वारा व्यवसाय, खेलकूद, अन्तरिक्ष यात्रा, समुद्र यात्रा, पर्वतारोहण आदि विभिन्न क्षेत्रों में कठिन प्रतीत होने वाले कार्य सरलतापूर्वक किए जा सकते हैं। इस प्रणाली के द्वारा अन्तःप्रज्ञा (इन्ट्यूशन) को विकसित कर अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए जा सकते हैं। व्यवसाय प्रबन्धक, राजनयिक, प्रशासन तंत्र के अधिकारी, न्यायाधीश और कार्यपालिका के सदस्य- ये सभी इनसे लाभान्वित हो सकते हैं। पुलिस और सेना के लिए भी इसका बहुत मूल्य है। एकाग्रता, संकल्पशक्ति, नियन्त्रण की क्षमता और स्वभाव की पुनर्रचना- ये जीवन की उपलब्धियां हैं। जीवन-विज्ञान के प्रयोग द्वारा इन्हें प्राप्त किया जा सकता है।

### संस्कार परिवर्तन की प्रणाली

जीवन-विज्ञान की प्रणाली संस्कार-परिवर्तन की प्रणाली है। यह बौद्धिक क्षमता और समृति की क्षमता को बढ़ाने वाली प्रणाली है, क्योंकि इसमें ग्रहण की अपेक्षा ग्रहण के मूल स्रोत पर अधिक ध्यान दिया गया है। व्यक्ति-व्यक्ति में ग्रहणात्मक क्षमता का तारतम्य होता है। वह कितना रिसेप्टिव है, कितना ग्रहण करता है- इस पर विशेष ध्यान दिया जाता है। पर सोचना यह है कि ग्रहण के जो मूल केन्द्र हैं मस्तिष्क के, जो सुप्त पड़े हैं, उन्हें कैसे जगाया जाए ?

विद्यार्थी का व्यवहार, चरित्र और अनुशासन-इनको शिक्षा से अलग नहीं किया जा सकता। केवल बौद्धिक विकास को शिक्षा नहीं माना जा सकता। बौद्धिक विकास के साथ ये सारी बातें अविच्छिन्न और अविभक्त रूप में जुड़ी हुई हैं। जैसे-जैसे विद्यार्थी में बौद्धिक विकास हो, वैसे-वैसे उसमें चरित्र, व्यवहार और अनुशासन का विकास भी हो। मूल्यात्मकता और शिक्षा-दोनों को कभी अलग नहीं किया जा सकता। जो सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य हैं, उनको छोड़कर शिक्षा को भिन्न स्वतंत्र रूप में नहीं देखा जा सकता। इसलिए मस्तिष्क का वैसा प्रशिक्षण हो, जिससे ये सारे मूल्य एक साथ संभावितता के रूप में विकसित हो सकें। इस दृष्टि से मस्तिष्क के सभी केन्द्रों को विकसित करना जरूरी है।

### जीवन-विज्ञान का अभ्युपगम

जीवन-विज्ञान की प्रणाली का आधारभूत तत्व यह है कि मस्तिष्क का संतुलन केवल पढ़ने से नहीं हो सकता, केवल बुद्धि के द्वारा नहीं हो सकता। बुद्धि का कार्य है विश्लेषण करना, निर्धारण और निश्चय करना। चरित्र का निर्माण करना बुद्धि का काम नहीं है। मस्तिष्क में अनेक केन्द्र हैं। बुद्धि का केन्द्र भिन्न है और चरित्र निर्माण का केन्द्र भिन्न है। मस्तिष्क-विद्या के आधार पर मस्तिष्क के केन्द्रों का निर्धारण भी कर लिया गया है कि कौन सा केन्द्र किसके लिए उत्तरदायी है। कौन से रसायनों के द्वारा कैसे विद्युत-संवेग पैदा होते हैं, संवेदना पैदा होती है। किस रसायन के द्वारा उनका नियंत्रण होता है और किस केन्द्र से कौनसी प्रवृत्ति होती है—यह सारा ज्ञान कर लिया गया है।

### समन्वित विकास

शिक्षा का उद्देश्य है कि विद्यार्थी का सर्वांगीण विकास हो। इसके लिए मस्तिष्क के उन सभी केन्द्रों को सक्रिय करना होगा, जो उन-उन गुणों के मूल स्रोत हैं। जब कुछ केन्द्र सोए रहते हैं और कुछ जागृत हो जाते हैं, तब सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता। सर्वांगीण विकास में यह माना जाता है कि व्यक्ति का शरीर स्वस्थ हो, मन संतुलित हो, बुद्धि विकसित हो और भावना शुद्ध हो। इन चारों की जरूरत है। इनके एकांगी विकास को सर्वांगीण विकास नहीं कहा जा सकता। एकांगी विकास में समस्याएं अधिक उभरती हैं। धर्म या अध्यात्म के एकांगी विकास से कोई गुफा में बैठकर साधना तो कर सकता है

पर समाज-व्यवस्था को नहीं चला सकता। समाज के व्यवस्थित संचालन के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चारों पुरुषार्थ अपेक्षित माने जाते हैं। धर्म और मोक्ष को नहीं छोड़ा जा सकता तो अर्थ और काम की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। समाज में सबकी अपेक्षा है। इनका संतुलन चाहिए। एकांगी धार्मिक विकास भी कभी-कभी अन्धविश्वास में बदल जाता है। अतः चारों का समन्वित विकास ही समाज को स्वस्थ रख सकता है।

मस्तिष्क के सभी उत्तरदायी केन्द्रों को एक साथ सक्रिय करना जरूरी है, जो वास्तविक मूल्यों के मूल स्रोत हैं। यही जीवन-विज्ञान की परिकल्पना का आधार है।

### ग्रहण क्षमता का विकास

बल्गेरिया में 'सुपर लरनिंग' की प्रणाली चलती है। उसका वहां बहुत विकास हुआ है। डा० लाजरनाव ने इसका विकास किया और इस पद्धति के द्वारा शीघ्र-ग्रहण की पद्धति विकसित हुई। एक पूरा क्रम चलता था सजेस्टोलॉजी का। इसके लिए एक केन्द्र स्थापित किया गया और विद्यार्थी में इतनी क्षमता पैदा कर दी कि वह वर्ष भर का कोर्स एक महीने में पूरा कर देता है। वह दिन भर में ५००-७०० शब्द कण्ठस्थ कर लेता है। इसका विकास वहां किया गया। जीवन-विज्ञान में भी इसबात पर ध्यान दिया गया कि विद्यार्थी में ग्रहण करने की क्षमता बढ़ाई जाए। जैन साहित्य में शिक्षा के बारे में अनेक सूत्र आए हैं। इसे दूसरे शब्दों में 'अवधान विद्या' कहा जाता है। अवधान में क्षिप्र ग्रहण ही नहीं होता, बहुविध-ग्रहण भी होता है, सूक्ष्म-ग्रहण भी होता है। उपाध्याय यशोविजयजी 'अवधान विद्या' के निपुण प्रयोक्ता थे। एक बार एक-सी सौ कटोरियां रख दी गईं। एक व्यक्ति एक-एक कटोरी को बजाता और अवधानकार उन कटोरियों के शब्दों को ग्रहण करते। सौ कटोरियों का बजाना पूरा हुआ। फिर परीक्षा ली गई। बीच में से किसी भी कटोरी को बजाकर पूछा गया कि उसकी संख्या कौनसी है? आवाज के आधार पर संख्या बताई, वह सही निकली। यह है सूक्ष्मग्रहण की विधि। इसी के आधार पर आवाज का अलग-अलग ग्रहण हो गया।

क्षिप्रग्राही, सूक्ष्मग्राही, बहुविधग्राही—ये सारे बौद्धिक विकास के परिचायक हैं। इससे अधिक महत्वपूर्ण है चरित्र के विकास की ओर ध्यान देना चरित्र-विकास के कुछ पहलू हैं। नैतिकता का विकास, व्यवहार-शुद्धि

का विकास और अनुशासन का विकास—ये सारे चरित्र-विकास के तत्व हैं। चाहे सुपर लरनिंग की बात हो या जीवन-विज्ञान की बात हो, केवल सैद्धांतिक पक्ष से काम नहीं चलता, प्रयोगात्मक पक्ष आवश्यक होता है।

### तनाव मुक्ति

प्रयोग की पहली बात है—तनाव से मुक्ति। विद्यार्थी में ग्रहणशीलता तब बढ़ेगी जब वह तनावमुक्त होगा। तनाव चाहे शारीरिक हो, मानसिक या भावनात्मक हो, तनाव के रहते क्षमता नहीं बढ़ सकती। इसलिए पहली बात है—तनावमुक्ति। सुपर लरनिंग में भी यही कराया जाता है। सत्य एक होता है। सत्य को कभी देशकाल में बांटा नहीं जा सकता। सत्य देशातीत और कालातीत होता है। वह त्रैकालिक है। हम जिसे कायोत्सर्ग कहते हैं, अन्यत्र उसे रिलेक्शंसन कहा जाता है। इससे शारीरिक तनाव विसर्जित हो जाता है। शरीर में कहीं तनाव नहीं रहता। मस्तिष्क तनाव रहित होता है तब ग्रहण की क्षमता बढ़ जाती है। जब विद्यार्थी तनाव से भरा रहता है तब वह कुछ नहीं पढ़ पाता। कायोत्सर्ग की अवस्था तनावमुक्ति की अवस्था है। उसमें उसकी पढ़ने की शक्ति बढ़ जाती है। १०-२० शब्द याद करने वाला विद्यार्थी पचास शब्द याद करने लग जाता है।

### श्वास की स्मृति

दूसरा प्रयोग है—लयबद्ध श्वास। योग में प्राणायाम का बहुत महत्व रहा है। धर्म का यह अनिवार्य अंग है। प्रत्येक धर्म के साथ उपासना की पद्धति जुड़ी हुई है। वैष्णव लोग संध्या करते हैं। जैन लोग प्रतिक्रमण करते हैं। मुसलमान नमाज पढ़ते हैं। वैष्णवों में संध्या करना आज भी प्रचलित है, पर वे संध्या के वास्तविक मर्म को भूल गए हैं। संध्या के साथ शिथिलीकरण, प्राणायाम और रंगों का ध्यान प्रचलित था। नीला रंग, लाल रंग और श्वेत रंग—इन तीन रंगों के साथ ब्रह्मा, विष्णु और महेश की कल्पना थी। संध्या रह गई और रंगों के प्रयोग छूट गए। जैनों में भी प्रतिक्रमण रह गया और उसमें श्वास के साथ पाठ करना, उच्चारण करना छूट गया।

प्राणायाम मस्तिष्कीय विकास के लिए अनिवार्य प्रक्रिया है। इसमें मस्तिष्क के सुप्त और निष्क्रिय केन्द्र जागृत और सक्रिय होते हैं।

लयबद्ध श्वास से मस्तिष्क की सुप्त शक्तियां जागती हैं। सारा तंत्र उससे प्रभावित होता है। लयबद्ध चलना, बोलना, श्वास लेना—ये शक्तिजागरण

के प्रेरक तत्व हैं। जीवन-विज्ञान की प्रणाली में इसको बहुत महत्वपूर्ण माना गया है। सुपर लरनिंग पद्धति में भी इसका समावेश है।

### जीवन-विज्ञान पद्धति के मुख्य प्रयोग

जीवन-विज्ञान पद्धति के तीन मुख्य आधार हैं—कायोत्सर्ग, समवृत्ति-श्वास और अनुप्रेक्षा। पश्चिमी जगत् में जिसे सजेशन, ऑटो-सजेशन कहा जाता है, वह अनुप्रेक्षा का ही रूप है। चिकित्सा के क्षेत्र में पहले सजेशन का प्रयोग होता था, आजकल सम्मोहन का प्रयोग होने लगा है। आज शल्य चिकित्सक एनेथेसिया का प्रयोग करते हैं। कुछेक शल्य-चिकित्सक सम्मोहन के द्वारा बड़े-बड़े ऑपरेशन कर देते हैं। इससे न बीमार व्यक्ति को कोई कष्ट होता है और न डॉक्टर को। संदेश देना, सुझाव देना, अनुप्रेक्षा करना, भावना से भावित करना—ये सब भारतीय योगविद्या के अंग हैं। इनसे मस्तिष्क की शक्तियों को जगाया जा सकता है। इनके प्रयोग हुए हैं और सुपर लरनिंग वालों ने इससे लाभ उठाया है।

पश्चिम जर्मनी का एक डॉक्टर सामुद्रिक यात्रा पर निकला। नब्बे दिन की यात्रा थी। उसने यात्रा के पहले दिन से ही ऑटो-सजेशन देना प्रारम्भ कर दिया कि मुझे उस किनारे पर पहुंचना है। उनसे इस वाक्य को जाप का-सा रूप दे दिया। कठिनाइयों के उपरांत भी वह सकुशल उस किनारे पर पहुंच गया। उसे अपनी पहुंच पर स्वयं को आश्चर्य हुआ।

हम जिस भावना से अपने मन को भावित करेंगे, वह घटना अवश्य घटित होगी। यह आंतरिक प्रक्रिया है। स्वभाव का निर्माण करने वाले न्यूक्लीड एसिड आदि जो रसायन हैं हम उन्हें सजेशन या संकल्प-शक्ति के द्वारा बदल सकते हैं। रसायन बदलते हैं तो सारी क्रियाएं बदल जाती हैं। सजेशन की पद्धति का ही नाम है—अनुप्रेक्षा पद्धति। इसका मूल तत्व है—अभ्यास। इससे स्वभाव, चरित्र और व्यवहार को बदला जा सकता है। इसके लिए अभ्यास जरूरी है। केवल सिद्धान्त को जानने मात्र से असर नहीं होता, परिणाम नहीं आता। आज अहिंसा के सिद्धान्त को जानने वाले बहुत हैं, पर उसको जीने वाले बहुत कम हैं। इसीलिए अहिंसा की चर्चा करने वाले अधिक हिंसा और परिग्रह में लिप्त पाए जाते हैं। हम कायोत्सर्ग की मुद्रा में बैठकर अनुप्रेक्षा के वाक्य को पचास बार दोहराएं। दोहराते-दोहराते शब्द गौण हो जाए और उसके अर्थ के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाए। ऐसा होने पर वह संस्कार हमारे में सक्रिय हो जाएगा।

यदि यह अभ्यास तीन महीने तक निरन्तर चलता है तो वांछित परिणाम आ सकता है। यह तब केवल सिद्धांत को व्यावहारिक बनाया जा सकता है।

बौद्धिक विकास के लिए भी बच्चे शब्दों को दोहराते हैं। दस-बीस बार दोहराने से वे शब्द कंठस्थ हो जाते हैं। इसी प्रकार संस्कार का निर्माण करने के लिए शब्दों को हजार बार दोहराना जरूरी है। अनुप्रेक्षा का अर्थ है—पुरनावृत्ति करना। इसे भावना कहा जाता है। आयुर्वेद में भावना का बहुत प्रचलन है। उसमें सौ भावनाओं से भावित, हजार भावनाओं से भावित आदि औषधियां होती हैं। उनके परिणाम में बहुत बड़ा अन्तर आ जाता है। जैसे-जैसे औषधि भावित होती जाती है, सूक्ष्म होती जाती है, वैसे-वैसे उसकी शक्ति बढ़ती जाती है। यह सही है कि आवृत्तियां बढ़ेंगी, उतनी ही क्षमता बढ़ेगी। वह आवृत्ति एक फ्रीक्वेन्सी में चलती है तो क्षमता में संवर्धन होता है। यह अनुप्रेक्षा का ही प्रयोग है।

### अभ्यास

१. जीवन-विज्ञान में मस्तिष्क प्रशिक्षण के कौन से प्रयोग उपलब्ध होते हैं ?
२. आवेश और आवेग का नियमन करने के लिए जीवन विज्ञान में कौन-सी विधियां हैं ?
३. उच्च शिक्षा ग्रहण करने पर भी व्यक्ति के आवेश-आवेग अनियन्त्रित और अंसतुलित रहते हैं, वैज्ञानिक आधार पर इसके कारणों की व्याख्या करें।

# जीवन विज्ञान :

## सर्वांगीण व्यक्तित्व विकास का संकल्प

### तन्त्र के संतुलन का प्रयत्न

व्यक्ति समाज का एक अंग है। वह सामाजिक जीवन जीता है। समाज के सन्दर्भ में उसके जीवन का विकास होता है। व्यक्ति और समाज को सर्वथा अभिन्न नहीं किया जा सकता तो उन्हें सर्वथा भिन्न भी नहीं किया जा सकता। उनमें भेद का सूत्र है—वैयक्तिकता। वह समाज में नहीं है। व्यक्ति की अपनी विशेषता है। उनमें अभेद का सूत्र है—तन्त्र ! समाज में तन्त्रों का एक समवाय है—अर्थतन्त्र, राजतन्त्र, व्यवसायतन्त्र, शिक्षातन्त्र, और धर्मतन्त्र। जीवन संचालन के लिए अर्थ, राज्य और व्यवसाय का तन्त्र काम कर रहा है। जीवन विकास के लिए शिक्षा और धर्म का तन्त्र काम कर रहा है। वर्तमान में ये तन्त्र संतुलित नहीं हैं। अर्थतन्त्र के साथ अपरिग्रह या व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा जुड़ी हुई नहीं है इसलिए वह असन्तुलित बना हुआ है। राज्यतन्त्र केवल नियंत्रण के आधार पर चल रहा है, उसके साथ हृदय-परिवर्तन का प्रयोग जुड़ा हुआ नहीं है, इसलिए वह भी असन्तुलित है। व्यवसाय तन्त्र में प्रामाणिकता या नैतिकता का प्रयोग नहीं है इसलिए उसमें भी सन्तुलन नहीं है। शिक्षातन्त्र एकांगी विकास की परिक्रमा कर रहा है। वह सर्वांगीण विकास की धुरी पर नहीं चल रहा है, इसलिए वह भी अपना सन्तुलन खो बैठा है। धर्मतन्त्र में उपासना का स्थान मुख्य है और चरित्र का स्थान गौण है, इसलिए उसका सन्तुलन भी गड़बड़ाया हुआ है। इस असन्तुलन की स्थिति में हम आत्मानुशासन और चरित्र-विकास की बात नहीं सोच सकते।

जीवन-विज्ञान तन्त्र में संतुलन स्थापित करने का प्रयास है। उसका एक पक्ष है अणुव्रत और दूसरा पक्ष है प्रेक्षाध्यान। अणुव्रत संकल्प-शक्ति का प्रयोग है। व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा का संकल्प अणुव्रत है और उस संकल्प की पुष्टि अभ्यास के द्वारा हो सकती है। वह अभ्यास पद्धति है—प्रेक्षाध्यान।

क्रोध, लोभ, भय आदि की वृत्तियां बार-बार जागती रहती हैं। उन्हें अभ्यास के द्वारा बार-बार शांत किया जा सकता है। केवल सिद्धांत के द्वारा उनका उपशमन नहीं होता किन्तु अभ्यास के द्वारा सिद्धांत के साथ तादात्म्य स्थापित करने पर उनका उपशमन किया जा सकता है। जीवन-विज्ञान अभ्यास पद्धति है। इसमें आसन, प्राणायाम, श्वास-प्रेक्षा, चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा आदि अनेक प्रयोग हैं। इनके द्वारा आंतरिक परिवर्तन किया जा सकता है और व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए आंतरिक या रासायनिक परिवर्तन बहुत आवश्यक है।

जीवन-विज्ञान का उद्देश्य क्या है, यह प्रश्न पूछा जाता है। इसका उद्देश्य है—

- पुस्तकीय ज्ञान के साथ अच्छे ढंग से जीवन जीने की कला सिखाना।
- अपने संवेगों पर नियन्त्रण करने की पद्धति सिखाना।
- अभ्यास के द्वारा रासायनिक सन्तुलन स्थापित करना और रासायनिक परिवर्तन घटित करना।
- सामाजिक व्यवहार को निश्छल और मैत्रीपूर्ण बनाना।
- मादक वस्तुओं के सेवन से मुक्ति दिलाना।

### शिक्षा जगत् की समस्याएं

आज शिक्षा-जगत् की कुछ समस्याएं हैं। जीवन-विज्ञान उन समस्याओं का समाधान है। यही उसके अस्तित्व की अपेक्षा है। शिक्षा की समस्याएं इस प्रकार हैं—

○ मस्तिष्क को ज्ञान-विकास के लिए अधिक प्रशिक्षित किया जा रहा है। उसे चरित्र-विकास के लिए बहुत कम प्रशिक्षित किया जा रहा है।

○ पुस्तकीय शिक्षा, सिद्धांत, उपदेश और विचार-विनिमय से मस्तिष्क के चेतन भाग को प्रभावित किया जा रहा है। उसके अचेतन भाग को बहुत कम प्रभावित किया जा रहा है।

○ चरित्र, आदत और संस्कार का सम्बन्ध मस्तिष्क के अचेतन भाग से अधिक है। उसे प्रभावित किए बिना समानता, सहिष्णुता, सह-अस्तित्व, संप्रदाय-निरपेक्षता और प्रामाणिकता जैसे मूल्यों को विकसित नहीं किया जा सकता। लोकतन्त्र और समाजवादी समाज की अपेक्षाओं को पूरा नहीं किया जा सकता।



० स्वस्थ समाज रचना के लिये स्वस्थ व्यक्तित्व के निर्माण की अपेक्षा होती है। व्यक्तित्व की समग्रता केवल बौद्धिक विकास में नहीं है। उसके लिये शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक विकास भी जरूरी है।

० अंतःस्रावी ग्रन्थियों के स्राव व्यक्तित्व का सन्तुलन बनाए रखते हैं। मानसिक और भावनात्मक असंतुलन के कारण उन ग्रन्थियों के स्राव असन्तुलित हो जाते हैं। इस असन्तुलन की स्थिति में स्वस्थ समाज की संरचना नहीं हो सकती। पाठ्यक्रम में मानसिक और भावनात्मक सन्तुलन के सूत्रों का समावेश नहीं है।

० विद्यार्थी को जितना पढ़ाया जा रहा है उतना आवश्यक नहीं है और जो आवश्यक है वह पढ़ाया नहीं जा रहा है। आवश्यकता की कसौटी है जीवन से सम्बद्धता और समाज से प्रतिबद्धता। श्रम और चरित्र का जीवन से सीधा सम्बन्ध है। इतिहास और भूगोल आदि का जीवन से सीधा सम्बन्ध नहीं है। एक छोटे विद्यार्थी को जितना इतिहास और भूगोल पढ़ाया जाता है उतना चरित्र या व्यक्तित्व निर्माण के बारे में नहीं पढ़ाया जाता। शिक्षक की विवशता है कि वह पाठ्यक्रम से हट कर पढ़ा नहीं सकता अथवा उसके पास अतिरिक्त समय नहीं है।

० प्रत्येक व्यक्ति आनन्द या मस्ती का जीवन जीना चाहता है। शारीरिक श्रम से शारीरिक तनाव (फिजिकल टेन्सन), मानसिक श्रम से मानसिक तनाव (मेन्टल टेन्सन) और संवेद से भावनात्मक तनाव (इमोशनल टेन्सन) पैदा होते हैं। ये तनाव आनंद या मस्ती को काफूर कर देते हैं। आनंद अपने आपको भूलाए बिना, चिन्ता और चिन्तन से छुट्टी पाए बिना उपलब्ध नहीं हो सकता। इसी समस्या के आधार पर विद्यार्थियों में मादक वस्तुओं के सेवन की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। यदि इसका विकल्प नहीं दिया गया तो मानसिक तनाव से ग्रस्त रहने वाला विद्यार्थी मादक वस्तुओं से बच सके, यह आज की स्थिति में कठिन लगता है।

० सामाजिक जीवन व्यवहार में नैतिक मूल्यों के विपरीत प्रवृत्तियां देखने को मिलती हैं। एक विद्यार्थी विद्यालय में ईमानदारी का पाठ पढ़ता है और उसके बाहर बेईमानी की घटनाएं देखता है। इस स्थिति में शिक्षा के क्षेत्र में किए जाने वाले मूल्य-विकास के प्रयत्न कैसे सफल हो सकते हैं ?

० परिस्थितियों, निमित्तों और समाधानों पर ध्यान दिया जा रहा है पर आंतरिक परिवर्तन या हृदय-परिवर्तन की विधियों पर ध्यान नहीं दिया जा रहा है।

## समाधान है जीवन विज्ञान

इन समस्याओं का समाधान जीवन-विज्ञान में खोजा जा सकता है।

पदार्थ-विकास के लिए विज्ञान को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता तो मानसिक शक्ति के लिए अध्यात्म को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हमारा जीवन केवल विज्ञान के आधार पर भी नहीं चल सकता तो केवल अध्यात्म के आधार पर भी नहीं चल सकता। उसमें विज्ञान और अध्यात्म—दोनों के लिए अवकाश है।

जीवन-विज्ञान के पाठक्रम में इन दोनों का समावेश किया गया है। दर्शन, अध्यात्म, योग-विद्या और कर्मशास्त्र के साथ-साथ शरीर-विज्ञान, शरीर क्रिया-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि विद्या-शाखाओं का सन्तुलन स्थापित किया गया है।

जीवन-विज्ञान में सिद्धांत और प्रयोग दोनों सन्तुलित हैं, इसलिए इसके द्वारा नैतिक मूल्यों के विकास की सम्भावना की जा सकती है। प्रयोग-शून्य सिद्धांत के द्वारा उनके विकास की कल्पना नहीं की जा सकती। स्वभाव निर्माण के लिए प्रयोग नितांत आवश्यक है। अभ्यास के अभाव में आदमी जानता हुआ भी अनजान-सा बना रहता है। इस दृष्टि से यह मूल्य-विकास का एक महत्वपूर्ण उपाय हो सकता है।

जीवन-विज्ञान के सम्बन्ध में कुछ सामान्य जिज्ञासाएं की जाती हैं। उनका आकलन इस प्रकार है—

### १. जीवन-विज्ञान का आधार क्या है ?

चरित्र-निर्माण, अहिंसा, और सामाजिक न्याय के लिए आस्था या प्रेम का बिंदु नितांत आवश्यक है। राष्ट्र या अन्य किसी आदर्श के प्रति समर्पण का भाव आस्था उत्पन्न करता है। जीवन की पद्धति में आंतरिक मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न की जाती है और वही आस्था सहज-भाव से चरित्र का निर्माण करती है, व्यवहार में परिवर्तन लाती है।

### २. जीवन-विज्ञान का विद्यार्थी के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

जीवन-विज्ञान के प्रयोगों द्वारा एकाग्रता, स्मृति, धारणा-शक्ति और संकल्प-शक्ति का विकास होता है। ये मूल्यवान् हैं, पर इनसे अधिक मूल्यवान् है जीवन व्यवहार

का परिवर्तन। सहिष्णुता, अनुशासन, दायित्वबोध आदि का विकास बौद्धिक विकास के साथ अत्यन्त अपेक्षित है। हमारे शरीर में उत्पन्न होने वाले व्यवहार रसायनों से नियंत्रित होते हैं आंतरिक प्रयोगों के द्वारा रासायनिक संतुलन स्थापित किया जा सकता है। उससे व्यवहार परिवर्तन हो जाते हैं। इस पद्धति से विद्यार्थी के व्यवहार का परिवर्तन देखा गया है।

### ३. अभिभावक और शिक्षक के बदले बिना क्या विद्यार्थी बदल पाएगा ?

अणुव्रत आंदोलन ने शिक्षा के क्षेत्र में त्रिकोणात्मक अभियान शुरू किया था। अभिभावक, शिक्षक और विद्यार्थी—ये एक त्रिकोण हैं। इसका एक साथ बदलना जरूरी है। पूरे समाज में चरित्र का विकास हो, तभी विद्यार्थी में चरित्र का विकास हो सकता है, इस अवधारणा को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किंतु चरित्र-विकास की प्रक्रिया का प्रारम्भ कहां से हो, यह एक विमर्शनीय बिंदु है। विद्यार्थी के संस्कार अपरिपक्व होते हैं, इसलिए उसमें चरित्र का बीज बोना जितना सरल है उतना परिपक्व वय वाले मनुष्य में नहीं होता। नैतिक-मूल्य, सम्प्रदाय-निरपेक्षता, लोकतन्त्रीय समाजवादी समाजव्यवस्था, जाति-भेद और रंग-भेद की भावना से मुक्ति, इन सबका विकास बचपन से ही जितनी सरलता से किया जा सकता है इतना बाद में नहीं किया जा सकता। इसलिए शिक्षा को केवल बौद्धिक विकासपरक नहीं, किंतु भावनापरक भी होना चाहिए।

### ४. क्या शिक्षकों का जीवन-विज्ञान की पद्धति से भावात्मक लगाव हुआ है?

इस पद्धति में पहले अध्यापक प्रशिक्षण लेते हैं, फिर वे विद्यार्थियों को प्रयोग करवाते हैं। जिन अध्यापकों ने प्रशिक्षण लिया, वे स्वयं अपने जीवन में लाभ का अनुभव करते हैं। इनके साथ उनकी रसात्मकता जुड़ी है। जिस प्रणाली के प्रति प्रशिक्षण की अभिरुचि नहीं जुड़ती, उसके अच्छे परिणाम नहीं आ सकते। जिससे अपना शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य अच्छा होता है, मानसिक तनाव कम होता है, नशे की आदत से छुटकारा होता है, मानसिक शान्ति की अनुभूति होती है उसके प्रति सहज ही लगाव उत्पन्न हो जाता है। पचास या साठ प्रतिशत अध्यापकों की रुचि और उतनी ही विद्यार्थियों में परिवर्तन की सम्भावना की जा सकती है।

५. यह वैज्ञानिक युग है। इस युग में एक विद्यार्थी के लिए ध्यान क्यों जरूरी है ? क्या वैज्ञानिक ध्यान की उपयोगिता को स्वीकार करता है ?

ध्यान सत्य की खोज का उपाय है। एक वैज्ञानिक सत्य खोजता है, वह ध्यान के द्वारा ही खोजता है। जो ध्यान नहीं करता वह वैज्ञानिक नहीं होता। एकाग्रता के बिना सत्य को नहीं खोजा जा सकता। जब आईस्टीन से पूछा गया कि आपको सापेक्षवाद का सिद्धांत कैसे मिला ? उन्होंने कहा—मैं नहीं जानता। एक दिन मैं बगीचे में घूम रहा था और मुझे अचानक वह सिद्धांत प्राप्त हो गया। बुद्धि के बल पर सत्य का अवतरण नहीं होता। सत्य का अवतरण होता है एकाग्रता के द्वारा।

हम पवनार गए। आचार्यश्री ने विनोबा से पूछा—आप ध्यान कब करते हैं ? विनोबा बोले—आचार्यजी ! ऐसा मत पूछिए कि ध्यान कब करता हूँ, ऐसा पूछिए कि ध्यान कब नहीं करता। विनोबा ध्यान में सदा मग्न रहते थे। वे सत्यान्वेषी थे। क्षेत्र चाहे विज्ञान का हो या धर्म या शिक्षा का हो, एकाग्रता या ध्यान बहुत आवश्यक है। बच्चों को एकाग्रता की शिक्षा और अभ्यास प्रारंभ से ही करा देना चाहिए। बच्चों में चंचलता अधिक होती है। धीरे-धीरे उसे एकाग्रता में ले जाना बहुत महत्वपूर्ण बात है।

६. ध्यान के कितने अंग हैं ? उनकी निष्पत्ति क्या है ?

ध्यान के पांच अंग हैं—वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता। वितर्क का अर्थ है—चित्त को एक आलंबन पर टिका देना। ब्लेक बोर्ड पर एक शब्द लिख दिया और विद्यार्थी से कहा जाए कि इसी को पढ़ो, इसी को देखो, इसी पर ध्यान टिकाने का अभ्यास करो। हमारा मन नाना आलंबनों पर जाता है। कभी वह गेट को देखता है, कभी खिड़की की और कभी आदमी को। वह कभी कहीं और कभी कहीं भटकता रहता है। एक मिनिट में दस-बीस आलंबनों को बदल देता है। आलंबनों के साथ-साथ चित्त की गति भी बदलती रहती है। इसलिए एक आलंबन पर मन को टिकाने का अभ्यास कराना बहुत जरूरी है। यह ध्यान की पहली अवस्था है।

ध्यान का दूसरा अंग है—'विचार'। इससे स्वरूप का बोध होने लगता है। जब श्वास पर ध्यान किया जाएगा तब श्वास के स्वरूप का बोध होने लगेगा। श्वास क्या है, यह स्पष्ट हो जाएगा। जब तक चित्त को श्वास पर नहीं टिकाया जाता तब तक श्वास की जानकारी नहीं हो सकती। मैंने एक भाई से कहा—अपना ध्यान कपड़े पर टिकाओ। उसे ध्यान से देखो। कुछ समय तक वह कपड़े को देखता रहा,

फिर उसने कहा—महाराज ! कपड़े को ध्यान से देखने पर कपड़े का एक-एक बात मेरे सामने स्पष्ट हो गया और मुझे लगा कि कपड़ा सघन नहीं है, चलनी मात्र है। हम किसी भी वस्तु को एकाग्रता से देखेंगे तो हमें उसका वास्तविक स्वरूप देखने लग जाएगा। यह है 'विचार' की अवस्था।

ध्यान का तीसरा अंग है—'प्रीति'। जहां जानना होता है वहां राग-द्वेष नहीं होता। जहां राग-द्वेष समाप्त होता है, वहां जानना नहीं होता। राग समाप्त होता है, तब प्रीति पैदा होती है। द्वेष समाप्त होता है, तब प्रीति पैदा होती है। जब पदार्थ के साथ भी प्रीति पैदा होती है तब उसके साथ सही सम्बन्ध होता है। शुद्ध मैत्री का सम्बन्ध ही प्रीति का सम्बन्ध है।

ध्यान का चौथा अंग है—'सुख'। यह हमारे चैतन्य की अवस्था है। यहां कोई बाधा नहीं होती। इन्द्रिय जगत् में वास्तविक सुख नहीं हो सकता। जब तक विषयासक्ति का अतिक्रमण नहीं होता, तब तक सुख नहीं होता। जब केवल सत्य के साथ जुड़ते हैं तब सुख पैदा होता है। यह वास्तविक सुख की अवस्था है। जब यह अवस्था व्यक्ति में जागती है तब व्यक्ति यथार्थ में शिक्षित होता है। उसी को शिक्षित व्यक्ति मानना चाहिए।

साक्षरता और शिक्षा एक बात नहीं है। दोनों अलग-अलग हैं।

साक्षरता से अक्षर-ज्ञान तो हो जाता है, पर शिक्षित होने के लिए और अधिक बातें अपेक्षित होती हैं।

ध्यान का पांचवा अंग है—'एकाग्रता'। सुख के बाद एकाग्रता की चेतना पैदा होती है। हम एकाग्रता से चले और एकाग्रता पर आकर स्थापित हो गए। हमने श्वास का आलम्बन किया और इसके स्वरूप को जानने के लिए विचार प्रारम्भ किया। फिर उसमें प्रीति पैदा हुई। वह अच्छा लगने लगा। फिर सुख मिला। जब सुख मिलने लगा तो उसमें एकाग्रता होने लगी। यह एक प्रक्रिया है, सत्य की खोज का मार्ग है। यदि विद्यार्थी में प्रारम्भ से ही यह वृत्ति पैदा कर दी जाए तो उसका जीवन सफल हो सकता है। इसको हम एक निश्चय के साथ दोहराए कि किसी विषय पर स्थिर हुए बिना, एकाग्रता स्थापित किए बिना, विकास हो नहीं सकता।

**७. विद्यार्थी सुखी जीवन जीना चाहता है, क्या समस्याओं से छुटकारा पाए बिना उसकी यह चाह पूरी हो सकती है ?**

जब सुख का साक्षात्कार होता है तब दुःख कम हो जाता है। प्रायः लोग

सोचते हैं कि संसार में दुःख अधिक है। इस भ्रान्ति को तोड़ना आवश्यक है। समस्याएं दो प्रकार की होती हैं—यथार्थ और काल्पनिक। रोटी की, कपड़े और मकान की समस्याएं यथार्थ हैं। जीवन यापन की समस्या भी यथार्थ है। हम सोचें कि यथार्थ की समस्या का दुःख कितना है और काल्पनिक समस्या का दुःख कितना है। हम लेखा-जोखा करें तो ज्ञात होगा कि काल्पनिक समस्याएं अधिक होती हैं। हम दुःख का भार न ढोएं। जो दुःख का भार नहीं ढोता वह समस्याओं से आक्रान्त नहीं होता।

समस्या के समाधान का उपाय है—श्रमनिष्ठा, उत्पादक श्रम। यदि विद्यार्थी में श्रमनिष्ठा और उत्पादक श्रम की मनोवृत्ति जागती है तो समस्या का समाधान होता है। यदि वह नहीं जागती है तो अनेक काल्पनिक समस्याएं और जुड़ जाती हैं। आदमी में उत्पादक श्रम के प्रति कम निष्ठा है और फिजूल कार्य के प्रति अधिक उत्साह है। यदि शिक्षा जगत् इस मनोवृत्ति को बदलकर उत्पादक मनोवृत्ति पैदा कर सके तो उसका बहुत बड़ा अवदान हो सकता है। इसको बदला जा सकता है एकाग्रता और विधायक भाव के द्वारा। इन्हीं के द्वारा वह चेतना पैदा की जा सकती है, जो सुख की चेतना है।

### अभ्यास

1. अर्थ तंत्र, राज्य तंत्र, धर्म तंत्र आदि समाज के विभिन्न तन्त्र असंतुलित क्यों हैं ? असंतुलन के कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों को रेखांकित करें।
2. वर्तमान शिक्षा में जो पढ़ाया जा रहा है, क्या वह सब जीवन विकास के लिए आवश्यक है? आवश्यकता की कसौटी क्या है ?
3. विद्यार्थी के लिए चित की स्थिरता क्यों जरूरी है।
4. ध्यान के पांच अंग कौनसे हैं, और उनकी निष्पत्ति क्या है ?

## जीवन-विज्ञान : स्वस्थ समाज-रचना का संकल्प

### समाज रचना के आधार

अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह ये तीन समाज-रचना के आधार हैं और ये तीन सामाजिक मूल्य हैं। अहिंसा के बिना समाज बनता नहीं। सत्य के बिना भी समाज नहीं बनता और अपरिग्रह के बिना भी समाज नहीं बनता।

पहला आधार है—अहिंसा। अहिंसा का पहला तत्व है—भावना का परिवर्तन। हिंसा के अनेक कारण हैं। उनमें एक बड़ा कारण है—भावना, एक प्रकार की धारणा का न्यास। आदमी आदमी को आदमी नहीं मान रहा है, यह एक भावना है। जब तक इस भावना का परिवर्तन नहीं होता तब तक सामाजिक मूल्यों का विकास नहीं हो सकता।

अध्यात्म के आचार्यों ने इस भावना-परिवर्तन के लिए कुछ शब्द दिए—‘आत्मौपम्य’ आत्मतुला, ‘सब जीव समान’, सब जीव अपनी आत्मा के जैसे हैं। ये शब्द बहुत महत्वपूर्ण हैं और गंभीर अर्थ की सूचना देने वाले हैं। इस भावना के अभाव में जातीय विद्वेष पनपा, सांप्रदायिक विद्वेष पनपा और राज्य का सीमागत विद्वेष पनपा। यदि यह भावना विकसित होती कि सब जीव समान हैं, मेरी आत्मा के जैसी ही है दूसरे की आत्मा, जैसी सुख-दुःख की अनुभूति मुझे होती है, वैसी ही सामने वाले व्यक्ति को होती है तो यह जातीय और साम्प्रदायिक आक्रोश-विद्वेष कभी पनप नहीं पाता।

### वर्तमान स्थिति

वर्तमान स्थिति क्या है ? एक काला आदमी है और दूसरा गोरा आदमी है। आदमी आदमी है, केवल चमड़ी का और रंग का अन्तर है। किन्तु गोरा आदमी अपने आपको श्रेष्ठ मान रहा है और काले आदमी को नीच मान रहा है। एक सवर्ण है दूसरा असवर्ण है। सवर्ण अपने को श्रेष्ठ मान रहा है और असवर्ण अपने को नीच मान रहा है। यह रंग के आधार पर विद्वेष, जाति के आधार पर विद्वेष, धारणाओं के आधार पर विद्वेष है। एक नाजी यहूदी को हीन

मानता है और यहूदी नाजी को पागल कुत्ता जैसा मानता है। यह जातिगत विद्वेष है। विचारधारा के आधार पर भी यह विद्वेष पनपता है। एक संप्रदाय वाला दूसरे संप्रदाय वाले को हीन मान रहा है और अपने आपको उच्च प्रमाणित कर रहा है। ये सारे जो विद्वेष पनपे हैं, वे इस आधार पर पनपे हैं कि अहिंसा का जो सूत्र था मानव जाति की एकता का, उसे भुला दिया गया।

### मनुष्य जाति एक है

‘मनुष्य जाति एक है’—इस मूल्य की प्रतिष्ठा हमारी अनेक समस्याओं का एक समाधान है। कुछ लोगों ने इस दिशा में प्रयत्न किए। इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रयत्न है महात्मा गांधी का। उन्होंने इन सारे विद्वेषों को मिटाने के लिए काफी प्रयत्न किए और अहिंसा के प्रति आस्था उत्पन्न करने का अथक प्रयास किया। किन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है, घटनाएं स्वयं प्रमाण हैं कि वह प्रयत्न एक सीमा तक सफल हुआ, किन्तु व्यापक स्तर पर सफल नहीं हो सका। इसका कारण यही है कि जो प्रयत्न हुआ, वह बड़े लोगों में हुआ। अवस्था पक गई, विचार परिपक्व बन गए, धारणाएं पक गईं, उन लोगों में प्रयत्न हुआ। जब तक एक प्रभावशाली वातावरण रहा, परिस्थिति रही, तब तक तो लगा कि हिन्दुस्तानी मानस अहिंसा के निकट जा रहा है, किन्तु जैसे ही वह साया उठा, वह प्रभावी व्यक्तित्व सामने नहीं रहा और हिंसा देखते-देखते उग्र बन गई। जैसे ही हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का विभाजन हुआ, हिंसा ने क्या रूप लिया ? कितनी उग्रता सामने आई ? इस घटना से एक निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हिंसा की शक्ति भी कमजोर नहीं है। अहिंसा को अगर हम शक्तिशाली मानें तो हिंसा का शक्ति भी कम नहीं है और घटनाओं के आधार पर, इतिहास के साक्ष्यों के आधार पर तो यह कहा जा सकता है कि समय-समय पर हिंसा ने अपना जो रौद्र रूप दिखाया है, अहिंसा उतना सौम्य रूप नहीं दिखा पाई है। तो फिर हम पराजय स्वीकार कर लें कि समाज के लिए अहिंसा का मूल्य कोई स्थायी या शाश्वत मूल्य नहीं है और हम हिंसा का वरण इसलिए करें कि हिंसा का मूल्य समाज के लिए ज्यादा कारगर है। किन्तु यह भी स्वीकार नहीं किया जा रहा है। जहां-जहां हिंसा की समस्या उग्र बनती है, तत्काल ध्यान अहिंसा की ओर जाता है। जहां विवाद उग्र होता है, वहां तत्काल ध्यान समझौते की ओर जाता है। सब कहते हैं कि हिंसा की समस्या सुलझनी चाहिए, विवादों का अन्त आना चाहिए।



पंजाब की समस्या उग्र बनी। पूरे राष्ट्र का ध्यान केन्द्रित हो गया कि आतंकवाद समाप्त होना चाहिए, हिंसा की उग्रता अब नहीं चलनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि आदमी हिंसा चाहता नहीं, करता है। चाहता है अहिंसा एवं शांति किन्तु उन्माद आता है और उन्माद में वह हिंसा कर डालता है, शान्ति भंग हो जाती है।

दो स्थितियाँ हैं। एक है उन्माद की स्थिति और दूसरी है शांत स्थिति। शांत स्थिति में आदमी अहिंसक मूल्य को महत्व देता है किन्तु उन्माद जब आता है, उस स्थिति में वह हिंसा कर लेता है।

### अहिंसा के संस्कार

हिंसा स्वाभाविक या नैसर्गिक मांग नहीं है। वह एक अस्वाभाविक परिस्थिति है। हम कुछ कारणों से प्रभावित होकर उस दिशा में चले जाते हैं। यह बात समझ में आनी चाहिए कि समाज का मूल्य अहिंसा ही हो सकता है और उसी आधार पर समाज बना है।

आज आदमी अहिंसा की बात को भूल-सा गया है। इस स्थिति में उपाय की बात सोचनी चाहिए कि किस उपाय से इस अहिंसा के मूल्य को पुनः प्रस्थापित करें ? इस पर जब चिंतन करते हैं तो ऐसा लगता है कि एक और प्रयोग किया जाए। वह प्रयोग यह हो कि बचपन से ही अहिंसा की आस्था उत्पन्न की जाए। जब हिंसा की आस्था उत्पन्न हो जाती है, यह धारणा बन जाती है कि हिंसा के बिना काम नहीं चलता, फिर उसे बदलना बहुत जटिल हो जाता है। बचपन के संस्कार इतने प्रभावी होते हैं कि बाद में आने वाले संस्कार उनके सामने टिक नहीं पाते। एक प्रयोग करने की जरूरत है और वह प्रयोग होगा बचपन से अहिंसा की आस्था का निर्माण।

जीवन-विज्ञान की प्रकल्पना इसी चिंतन का एक परिणाम है। जिन सामाजिक मूल्यों को हम समाज में देखना चाहते हैं, विकसित करना चाहते हैं, उन सामाजिक मूल्यों को बचपन से ही प्रतिफलित करना चाहिए, उनके प्रति आस्था पैदा करनी चाहिए।

### अहिंसा की आस्था

आज सबसे बड़ा संकट है आस्था का। श्रद्धा इतनी विचलित है कि आदमी कहीं भी टिक नहीं पा रहा है। एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा और तीसरे के बाद चौथा कदम आगे बढ़ रहा है। कहीं पैर जमाकर

खड़े होकर आदमी कुछ करना नहीं चाहता। एक आदमी के मन में बचपन से ही साधना की बात आई और वह साधना करने चला। किन्तु चंचलता इतनी कि किसी भी बात पर जमा नहीं। आज एक पद्धति को अपनाया तो तीसरे दिन दूसरी पद्धति को और सातवें दिन तीसरी पद्धति को। बदलता गया, बदलता गया। आज यह स्थिति है कि वह जहां था, लगभग वहीं है, बहुत आगे सरक नहीं पाया। कहीं न कहीं आदमी को अपना पैर जमाकर खड़ा होना होता है और जब वह बिन्दु प्राप्त नहीं होता है तो कहीं भी हम कुछ कर नहीं पाते। हमें आस्था को दृढ़ बनाना है और उसके लिए भावना का परिवर्तन आवश्यक है। शिक्षा के साथ इस संस्कार को पुष्ट किया जाए कि 'सब जीव समान है' 'सब जीव समान हैं'- यह बात भी कुछ अमूर्त बन जाती है। मूर्त बात, सगुण भाषा ज्यादा प्रभावशाली बनती है। अमूर्त बात कभी-कभी कमजोर बन जाती है तो फिर इस आधार पर एक सिद्धांत विकसित किया कि जीवों की बात हम छोड़ दें पर कम से कम जो हमारे सामने हैं, हमारे जैसे हैं, उसके प्रति तो यह भाव विकसित करें कि मानव जाति एक है। दूसरा मनुष्य वैसा ही है जैसा मैं हूँ। और जैसा मैं हूँ, वैसा ही दूसरा मनुष्य है। इतनी आस्था उत्पन्न हो जाए तो मानवीय व्यवहार बदल जाए और यह बचपन में ज्यादा संभव है क्योंकि इस अवस्था तक दूसरे संस्कार हावी नहीं होते, प्रभावी नहीं बनते।

### आस्था मनुष्य जाति की एकता में

जैसा प्रारंभिक पाठ मिलेगा, विद्यार्थी उसे जल्दी पकड़ेगा। समाज-शास्त्र के अनुसार जिन मालिकों और दासों में मानवीय स्तर पर चिन्तन हुआ और संबंध स्थापित हुए, उनका व्यवहार बदल गया। एक बड़ी क्रूर कहानी रही है इतिहास की-मालिकों ने अपने दासों पर इतने क्रूर अत्याचार किए हैं कि उनको मानव नहीं माना जा सकता। मालिक मानो मनुष्य हो और दास जैसे उसका पशु हो। पशु के प्रति भी उतने अत्याचार या क्रूर व्यवहार नहीं किए जाते किन्तु मनुष्य के प्रति किए गए हैं और इतिहास की हजारों-हजारों घटनाएं इस तथ्य की साक्षी हैं।

आज भी देखते हैं तो बड़ा आश्चर्य होता है। आदमी कुछ अर्थों में आदमी से ज्यादा पशु को मूल्य देता है, क्योंकि उसकी उपयोगिता मानता है। वहां उसका अपना स्वार्थ है। एक घोड़ा सुविधा के साथ रहता है। उसका स्थान है वातानुकूलित गृह। उसकी सेवा में पांच-पांच, दस-दस नौकर हैं।

घोड़े पर जितना खर्च हो रहा है उतना उसके परिचारकों पर नहीं हो रहा है, क्योंकि घोड़ा ज्यादा उपयोगी है। एक रेस का घोड़ा लाखों रुपये या लाखों डालर पैदा करा देता है, जबकि आदमी इसका एक तुच्छ अंश भी लाभ नहीं देता। आदमी की सारी दृष्टि उपयोगिता पर, स्वार्थ पर और लाभांश पर टिकी हुई है मानवीय स्तर पर टिकी हुई नहीं है।

मानवीय व्यवहार के लिए सबसे प्रथम बात है कि मनुष्य जाति की एकता में आस्था उत्पन्न हो। ऐसा होने पर क्रूर व्यवहार करना कठिन हो जाता है।

अहिंसा का पहला सूत्र है- धारणा या भावना का परिवर्तन। दूसरा सूत्र है- प्रेम या मैत्री का विकास।

## घृणा और क्रूरता

हिंसा का मूल है- घृणा। जब तक घृणा पैदा नहीं होती, आदमी हिंसा कर नहीं सकता। लड़ना होता है, युद्ध करना होता है तो सामने वाले के प्रति घृणा पैदा की जाती है। यदि यहूदी जाति के प्रति घृणा पैदा नहीं की जाती तो लाखों यहूदियों को बिना मौत नहीं मारा जाता। पहले घृणा पैदा की जाती है और फिर हिंसा की जाती है। आज भी जितना आतंकवाद चल रहा है वह सारा घृणा के आधार पर चल रहा है। आतंकवाद का प्रशिक्षण मिलता है। प्रशिक्षण में सामने वाली जाति के प्रति इतनी घृणा भर दी जाती है कि फिर उसे मारने में कोई संकोच नहीं होता। घृणा हिंसा का बहुत बड़ा कारण है। उसे बदलना और उसके स्थान पर प्रेम उत्पन्न करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रेम उत्पन्न होने पर फिर कोई किसी को सता नहीं सकता।

एक चोर या डाकू अपनी पत्नी के गहने नहीं चुराता, घरवालों को कभी नहीं लूटता। मिलावट करने वाला व्यापारी बाजार में जाता है तो क्या वह अपने परिवार के लिए मिलावटी दूध या मिलावटी सामान लाना चाहता है? वह अपने घर में अच्छा लाना चाहेगा। वह दूसरों को मिलावटी माल बेचता है और स्वयं शुद्ध लेना चाहता है। दूसरा कारण यह है कि उसका परिवार के प्रति प्रेम है। जहां प्रेम है वहां क्रूर व्यवहार हो नहीं सकता।

यदि चोर या डाकू क्रूर ही होते तो उनका परिवार बनता ही नहीं। किन्तु वे अपने परिवार के प्रति बड़े दयालु, बड़े प्रेमालु होते हैं।

## ढाई आखर प्रेम का

प्रेम उत्पन्न करना, प्रेम का विकास करना, मैत्री का विकास करना यह अहिंसा का दूसरा तत्त्व है।

प्रेम की बहुत महिमा गाई है हमारे संतों ने । कबीर ने यहां तक लिखा-

पोथा पढ़-पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।

ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय ॥

आज समस्या यही है कि शिक्षा के साथ संवेदनशीलता, प्रेम, मैत्री या करुणा के विकास की बात बहुत जुड़ी हुई नहीं है। कहीं-कहीं होगी पर जुड़ी हुई नहीं है और केवल शिक्षा या पढ़ाई से ही यह बात आने वाली नहीं है। प्रेम के जो केन्द्र हैं शरीर में, जब तक उनको नहीं छुआ जाता, करुणा के केन्द्रों को नहीं छुआ जाता, तब तक वे विकसित नहीं होते।

घृणा का केन्द्र भी हमारे मस्तिष्क में है और प्रेम का केन्द्र भी हमारे मस्तिष्क में है। दोनों विद्यमान हैं। जिसको बल मिलेगा, वह पुष्ट हो जाएगा। जिसको बल नहीं मिलेगा, वह कमजोर हो जाएगा।

दो लड़के हैं। जिस लड़के को प्यार मिलेगा, वह अच्छा बन जाएगा और जिसको तिरस्कार मिलेगा, वह सूख जाएगा। जिस पौधे को प्यार मिलेगा, वह पल्लवित हो जाएगा। जिसे प्यार नहीं मिलेगा, पानी नहीं मिलेगा, जीवन नहीं मिलेगा, वह पौधा सूख जाएगा।

## प्रश्न है पल्लवन का

स्मृति पर खोज करने वाले वैज्ञानिक बतलाते हैं कि हमारे स्मृति के रसायन बड़े अद्भुत हैं। एक रसायन को आप हजार बार बल दें वह पुष्ट हो जाएगा और वह बात २०-३० वर्ष तक बराबर आपकी स्मृति में बनी रहेगी। यदि उसको बल नहीं मिलेगा तो वह रसायन कमजोर पड़ता चला जाएगा और विस्मृति की मात्रा बढ़ती चली जाएगी।

प्रश्न है आवृत्ति का, प्रश्न है पल्लवन का और प्रश्न है उसे पोषण मिलने का। हम उन केन्द्रों को यदि पल्लवित करते हैं, उनको छूते हैं तो अवश्य ही घृणा की भावना कम होती है और प्रेम का विकास होता है।

प्रेक्षाध्यान का एक प्रयोग है- ज्योति-केन्द्र प्रेक्षा। यदि ज्योति-केन्द्र पर

हम ध्यान करेंगे, बार-बार उसका अनुभव करेंगे तो प्रेम, मैत्री और संवेदनशीलता की भावना बढ़ेगी। यदि हमारा ध्यान ज्यादा पेट की ओर जाएगा, नाभि के आस-पास परिक्रमा करेगा तो क्रूरता की भावना, उद्वण्डता की भावना और घृणा की भावना को बल मिलता रहेगा। इसलिए हम किसको छूएं किसको अनछुआ रखें, यह जानना बहुत आवश्यक है।

आचार्य भिक्षु ने बहुत महत्वपूर्ण बात लिखी। उन्होंने कहा- एक व्यक्ति ने दो बीज बोए- एक आम का और दूसरा धतूरे का। दोनों पास-पास में थे। उसने अपने लड़के को कहा कि पोथों को सींचना है। लड़का भोला था, ना-समझ था। वह धतूरे के बीज पर बहुत पानी डालता, उसकी रखवाली करता, खूब सार-संभाल करता और जो आम का पौधा था उसे न पूरा पानी देता, न रखवाली करता, पूरा ध्यान भी नहीं देता। परिणाम यह हुआ कि आम का पौधा मुरझा गया और धतूरे का पौधा चमक उठा।

प्रश्न है- हम धतूरे के पौधे को ज्यादा पानी दे रहे हैं या आम के पौधे को ज्यादा पानी दे रहे हैं? हम किसकी ज्यादा सार-संभाल कर रहे हैं ? जिस पर अधिक ध्यान देंगे, वह ज्यादा विकसित होगा और जिस पर कम ध्यान देंगे, वह सिकुड़ जाएगा।

### आस्था का निर्माण किया जाए

प्रश्न है- हमारा ध्यान आज कहां है? ध्यान प्रेम के पौधे पर है या घृणा के पौधे पर है? हम पानी कहां सींच रहे हैं? हमारे लिए यह बहुत ज्वलन्त प्रश्न है। पानी तो सींच रहे हैं घृणा के पौधे पर और हम चाहते हैं कि अमन से रहें, शांति से रहें, कहीं आतंक न हो, कहीं हिंसा न हो, लूट-खसोट न हो, अपराध न हो। हमारी कल्पना तो चलती है राम-राज्य की और कार्य चलता है रावणराज्य का। संगति कैसे हो? इन विसंगतियों में जीते हुए हम मूल्यों का विकास नहीं कर सकते। यदि सचमुच हमारी आस्था है मूल्यों का विकास करना है, सामाजिक-मूल्यों को प्रतिष्ठित करना है तो हमें पानी वहीं सींचना होगा, जिससे मूल्यों का विकास संभव बन सके।

अहिंसा की चर्चा हजारों वर्षों से हो रही है। उसे आज भी आवश्यक मानते हैं पर उसका विकास नहीं हो पा रहा है। उसका मूल कारण है हमारी दुर्बलता। दुर्बलता यह है कि हम उसके प्रति सच्चे मन से प्रयत्न करना नहीं चाहते। आज हिंसा के पीछे जितनी मानवीय शक्ति खर्च हो रही है उसका एक

प्रतिशत भाग भी अहिंसा के पीछे खर्च नहीं हो रहा है। बड़े आश्चर्य की बात है। हमारी दुहाई है अहिंसा की और सारी शक्ति का नियोजन हो रहा है हिंसा के पीछे। क्या यह विरोधाभास नहीं है? हर आदमी शांति से रहना चाहता है और उसकी सारी प्रवृत्तियाँ अशांति को सिंचन दे रही हैं। क्या यह विरोधाभास नहीं है ? यह सब क्यों हो रहा है ? इसलिए कि बचपन से ही संस्कार दूसरे प्रकार के बने हुए हैं।

जब संस्कार रूढ़ हो जाते हैं, अर्जित आदतें रूढ़ बन जाती हैं तब उन्हें तोड़ना हर किसी के वश की बात नहीं होती। कुछ व्यक्ति अपवाद हो सकते हैं कि जो बड़ी अवस्था में भी आमूलचूल बदल सकते हैं, अपनी आदतों को बदल देते हैं, अपने संस्कारों में भी परिवर्तन ला देते हैं। किन्तु यह एक विशेष घटना है। जब कि संभावना यह है कि छोटी अवस्था में अभिलक्षित आदत का निर्माण किया जा सकता है, वह बहुत संभव है। इसलिए शिक्षा के साथ इसकी बहुत संगति बैठती है कि प्रारम्भ से ही बच्चों में वैसी आस्थाओं का निर्माण किया जाए, जिनकी अपेक्षा समाज रखता है और जिन्हें हम सामाजिक मूल्य के रूप में विकसित करना चाहते हैं।

### अभ्यास

१. महात्मागांधी ने अहिंसा के प्रयोग बड़े लोगों में किए थे, फिर जीवन-विज्ञान में बचपन से ही अहिंसा के प्रयोग कराने की परिकल्पना क्यों की गयी?
२. हिंसा के वातावरण में अहिंसा के संस्कार को कैसे पल्लवित किया जा सकता है?



खण्ड द

जीवन विज्ञान एवं जैन विद्या





जीवन विज्ञान एवं जैन विद्या  
बी. ए. द्वितीय वर्ष  
तृतीय पत्र-प्रायोगिक पाठ्यक्रम

अंक-५०

(क) आसन :

- |                        |              |
|------------------------|--------------|
| १. शशकासन (शशंकासन)    | ६. गोदुहासन  |
| २. अर्धमत्स्येन्द्रासन | ७. सिंहासन   |
| ३. बद्ध पद्मासन        | ८. उष्ट्रासन |
| ४. योग मुद्रा          | ९. चक्रासन।  |
| ५. पश्चिमोत्तानासन     |              |

(ख) प्राणायाम :

१. उज्जाई २. शीतली ३. भ्रामरी

(ग) यौगिक क्रियाएं :

मेरुदण्ड की आठ क्रियाएं

(घ) कायोत्सर्ग (दीर्घकालीन) उत्थित मुद्रा में :

प्रथम चरण—संकल्प,

द्वितीय चरण—ताड़ासन,

तृतीय चरण—उत्थित मुद्रा में तनाव एवं शिथिलता,

चतुर्थ चरण—उत्थित मुद्रा में सम्पूर्ण शरीर का शिथिलीकरण,

पंचम चरण—चित्त एवं प्राण की यात्रा

(ङ) प्रेक्षाध्यान :

१. शरीर प्रेक्षा २. चेतन्य केन्द्र प्रेक्षा

३. रंगों का ध्यान—शांति केन्द्र पर नीले रंग का ध्यान, दर्शन केन्द्र पर हरे रंग का ध्यान।

(च) अनुप्रेक्षा : विधि, प्रयोग-

१. मैत्री की अनुप्रेक्षा

३. अभय की अनुप्रेक्षा

२. करुणा की अनुप्रेक्षा

४. सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा

- |  |                                      |
|--|--------------------------------------|
| ५. संकल्पशक्ति के विकास की अनुप्रेक्षा | ९. ब्रह्मचर्य अणुव्रत की अनुप्रेक्षा |
| ६. आत्मतुला की अनुप्रेक्षा             | १०. अचौर्य अणुव्रत की अनुप्रेक्षा    |
| ७. अहिंसा—अणुव्रत की अनुप्रेक्षा       | ११. अपरिग्रह—अणुव्रत की अनुप्रेक्षा  |
| ८. सत्य—अणुव्रत की अनुप्रेक्षा         |                                      |

### मूल्यांकन के बिन्दु-

- |   |        |
|---|--------|
| १. आसन, प्राणायाम एवं यौगिक क्रियाओं में विधि क्रिया, प्रभाव एवं लाभ का मूल्यांकन   | १५ अंक |
| २. कायोत्सर्ग का मूल्यांकन-शरीर की स्थिरता, मुद्रा एवं भाव-भंगिमा, जागरूकता (आलस्य एवं प्रमाद का अभाव)  | १० अंक |
| ३. प्रेक्षाध्यान एवं अनुप्रेक्षा का मूल्यांकन-<br>(क) निर्देश शैली- भाषा, उच्चारण एवं विधि पाठ<br>(ख) प्रयोग शैली- शरीर की स्थिरता, मुद्रा एवं भाव भंगिमा, श्वास-प्रवास की गति का परीक्षण | १५ अंक |
| ४. प्रेक्टिकल नोट बुक   | १० अंक |

## अभ्यास प्रथम : प्रेक्षा-ध्यान

### १. पुनरावर्तन

पूर्व तैयारी, ध्यान का प्रथम चरण, ध्यान का दूसरा चरण जैसे प्रथम वर्ष में प्रायोगिक पाठ्यक्रम में निर्दिष्ट है, वैसे अभ्यास करें। तीसरे चरण में दीर्घश्वास-प्रेक्षा और समवृत्ति श्वास प्रेक्षा का पुनः अभ्यास करें।

इस वर्ष तीसरे चरण में शरीर-प्रेक्षा और चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का अभ्यास करें। चतुर्थ चरण में ज्योतिकेन्द्र पर श्वेत रंग के ध्यान का पुनः अभ्यास करें। समापन-विधि का पुनः अभ्यास करें।

### २ ध्यान का तीसरा चरण : शरीर प्रेक्षा

**विधि-** (शरीर-प्रेक्षा में हमें शरीर को देखना है। खुली आंखों से नहीं, चित्त से। आंखें बंद रहेंगी। चित्त को शरीर के एक-एक अवयव पर ले जाकर वहां पर होने वाले परिणमन, स्पंदन या प्रकम्पन आदि को द्रष्टाभाव से देखना है। कपड़े का स्पर्श, पसीना, खुजली, दर्द आदि जो कुछ अनुभव हो, उसे देखना है, उसका अनुभव करना है- इस बात को प्रशिक्षण में स्पष्ट कर दें तथा पहले प्रयोग के साथ बताएं।)

**प्रयोग-** चित्त को दाएं पैर के अंगूठे पर केन्द्रित करें। पूरे भाग में चित्त की यात्रा करें। वहां होने वाले प्राण के प्रकम्पनों का अनुभव करें। केवल जानें और अनुभव करें। प्रियता और अप्रियता से मुक्त रहकर केवल द्रष्टाभाव से देखें।

इसी तरह अंगुलियां.....पंजा.....तलवा.....एडी.....टखना  
.....पिण्डली.....घुटना.....साथल.....और कटिभाग।

(प्रत्येक अवयव पर आधा या एक मिनट प्रेक्षा कराएं) (प्राण के प्रकम्पनों.....द्रष्टा भाव से देखें- इस वाक्य को प्रत्येक अवयव के साथ बोलना जरूरी नहीं है। बीच-बीच में एक दो-बार दोहराएं।)

इसी प्रकार बायां पैर.....(प्रत्येक अवयव का नाम लेकर आधा से

एक मिनट तक प्रेक्षा कराएं।) अधोलोक की यात्रा सम्पन्न।

अब मध्यलोक की यात्रा प्रारम्भ करें। पेड़ के पूरे भाग में चित्त की यात्रा करें-दाएं-बाएं, आगे-पीछे, बाहर और भीतर- प्रत्येक भाग में चित्त को केन्द्रित करें और वहां पर होने वाले प्राण के प्रकम्पनों का अनुभव करें। केवल द्रष्टाभाव से देखें।.....(एक-दो मिनट बाद) इसी तरह पेट के पूरे भाग की प्रेक्षा करें।.....(एक से दो मिनट।)

अब पेट के प्रत्येक भीतरी अवयव की प्रेक्षा करें- दोनों गुर्दे.....बड़ी आंत.....छोटी आंत.....अग्न्याशय (पैंक्रियाज).....पक्वाशय (डियोडिनम्).....आमाशय.....तिल्ली (स्प्लीन).....यकृत (लीवर) और तनुपट (डायाफ्राम).....(प्रत्येक अवयव पर २० से ३० सैकिण्ड रुकें।)

अब वक्षस्थल (छाती) के पूरे भाग की यात्रा करें- दाएं-बाएं, आगे-पीछे, बाहर और भीतर, प्रत्येक भाग में चित्त को केन्द्रित करें और वहां पर होने वाले प्राण के प्रकम्पनों का अनुभव करें। अब प्रत्येक अवयव की प्रेक्षा करें- हृदय.....दाईं पसलियां.....बाईं पसलियां.....दायां फेफड़ा.....बायां फेफड़ा.....पीठ का पूरा भाग।

अब दोनों हाथों की प्रेक्षा करें। दायां हाथ.....अंगूठा.....अंगुलियां.....हथेली.....मणिबंध (कलाई).....कलाई से कोहनी तक.....कोहनी से कंधे तक की प्रेक्षा करें।

इसी प्रकार बाएं हाथ के अंगूठे से कंधे तक एक-एक भाग की प्रेक्षा करें।.....

कंठ.....स्वरयंत्र.....गर्दन.....और सुषुम्ना-शीर्ष.....प्रत्येक भाग पर क्रमशः चित्त की यात्रा करें और प्रेक्षा करें। मध्यलोक की यात्रा सम्पन्न।

अब ऊर्ध्वलोक की यात्रा प्रारम्भ करें- तुड्डी.....होठ.....मसूढ़े.....दांत.....जीभ.....तालु.....दायां कपोल.....बायां कपोल.....नाक.....दाईं आंख.....बाईं आंख.....दाईं कनपटी, दायां कान.....बाईं कनपटी, बायां कान.....ललाट.....और सिर। प्रत्येक भाग की प्रेक्षा करें। ऊर्ध्वलोक की यात्रा सम्पन्न।

अब एक साथ पूरे शरीर की प्रेक्षा करें। जो आसानी से खड़े-खड़े कर सकते हैं, वे खड़े-खड़े करें।

चित्त में यह क्षमता है कि वह एक बिंदु पर केंद्रित हो सकता है और

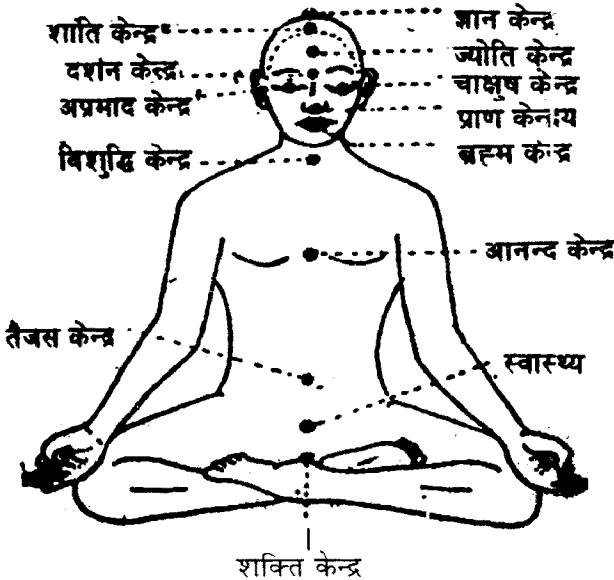
पूरे शरीर में एक साथ फैल सकता है। चित्त को पैर के दोनों अंगूठों पर केन्द्रित करें। पूरे शरीर के आकार में फैलते हुए पैर से सिर तक शीघ्रता से ले जाएं। उसी गति से सिर से पैर तक लाएं। बीच-बीच में श्वास-संयम के साथ शरीर-प्रेक्षा का प्रयोग करें। शरीर के कण-कण का स्पर्श करें। शरीर का कण-कण चेतना और प्राण के स्पर्श से झंकृत हो उठे। अनुभव करें, जैसे पूरे शरीर में बिजली की धार दौड़ रही है। कपड़े का स्पर्श, पसीना, खुजली, स्पंदन, दर्द जो कुछ हो रहा है, उसका तटस्थ भाव से अनुभव करें। अब धीमी गति से चित्त की यात्रा चले। कहीं पीड़ा, अवरोध हो उस पर कुछ क्षणों के लिए रुकें। केवल जानें, पूर्ण स्वभाव रहे (तीन मिनट)

### ३. चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा

#### चैतन्य-केन्द्र

चैतन्य-केन्द्रों की शृंखला में निम्नलिखित केंद्र हैं, जिनका स्थान और किस अन्तःस्नावी ग्रन्थि के साथ वे सम्बन्धित है, बताया गया है-

#### चैतन्य-केन्द्र स्थान और नाम



नाम	किस ग्रंथि से सम्बन्ध	स्थान
१. शक्ति केन्द्र	गोनाड्स (कामग्रंथि)	पृष्ठ-रज्जु के नीचे के छोर पर
२. स्वास्थ्य केन्द्र	गोनाड्स (कामग्रंथि)	पेडू (नाभि से चार आंगुल नीचे)
३. तैजस केन्द्र	एड्रेनल, पैंक्रियाज (आइलैंडस आफ-लैंगरहैन्स)	नाभि
४. आनन्द केन्द्र	थायमस	हृदय के पास बिल्कुल बीच में
५. विशुद्धि केन्द्र	थाइराइड, पेराथाइराइड	कंठ के मध्य भाग में
६. ब्रह्म केन्द्र	रसनेन्द्रिय	जिह्वा
७. प्राण केन्द्र	घ्राणेन्द्रिय	नासाग्र
८. चाक्षुष केन्द्र	चक्षुरिन्द्रिय	आंखों के भीतर
९. अप्रमाद	क्षेत्रेन्द्रिय	कानों के भीतर
१०. दर्शन केन्द्र	पीच्यूटरी (पीयूष)	भृकुटियों के मध्य में
११. ज्योति केन्द्र	हाइपोथेलेमस	ललाट के मध्य में
१२. शांति केन्द्र	पाइनियल	मस्तिष्क का अग्र भाग
१३. ज्ञान केन्द्र	बृहन्मस्तिष्क (कोर्टेक्स)	सिर के ऊपर का भाग (चोटी का स्थान)

चैतन्य केन्द्रों को जागृत करने की सरल पद्धति यह है- आप जिस केन्द्र को जागृत करना चाहें, जिसे सक्रिय बनाना चाहें, उस पर मन को एकाग्र करें। मन जितना अधिक एकाग्र होगा, वह केन्द्र सक्रिय हो जाएगा, जागृत हो जाएगा। हमें किस केन्द्र को जागृत करना है, सक्रिय बनाना है, यह हमारे लक्ष्य पर निर्भर है।

यदि आप चैतन्य केन्द्रों पर ध्यान केन्द्रित कर उन्हें सक्रिय बनाते हैं तो प्राणधारा को सीधा प्रवाहित होने का अवसर मिल जाता है, रुकावट दूर हो जाती है।

### विवेक के केन्द्र और वासना के केन्द्र

सारे केंद्र स्थूल रूप में दो भागों में विभक्त हैं- ज्ञान व विवेक के केंद्र और वृत्ति या वासना के केंद्र। ज्ञान के केन्द्र ऊपर हैं, वासना के केन्द्र नीचे हैं।

जब हमारी प्राणधारा या चित्त की गति नीचे की ओर होती है, तो वासना-केन्द्र सक्रिय होता है, जागृत होता है और ज्ञान-केन्द्र कमजोर हो जाता है। जब हमारी प्राणधारा या चित्त की गति ऊपर की ओर होती है, तब ज्ञान-केन्द्र सक्रिय होता है, जागृत होता है, और वासना-केन्द्र क्षीण हो जाता है।

## विधि

चैतन्य-केन्द्र प्रेक्षा का प्रारम्भ शक्ति केन्द्र की प्रेक्षा से किया जाता है, फिर क्रमशः स्वास्थ्य केन्द्र, तैजस-केन्द्र, आनन्द केन्द्र, विशुद्धि केन्द्र, ब्रह्म केन्द्र, प्राण केन्द्र, चाक्षुष केन्द्र, अप्रमाद केन्द्र, दर्शन केन्द्र, ज्योति केन्द्र, शांति केन्द्र, और अंत में ज्ञान-केन्द्र की प्रेक्षा की जाती है। प्रत्येक केन्द्र पर चित्त को केन्द्रित कर वहां होने वाले प्राण के प्रकम्पनों का अनुभव किया जाता है। प्रारम्भ में प्रत्येक केंद्रों पर २ से ३ मिनट तक ध्यान किया जाता है। साधक को इस बात की सावधानी रखनी होती है कि तैजस-केंद्र और उससे नीचे के केंद्रों पर ध्यान करने के पश्चात् आनन्द केंद्र और ऊपर के केन्द्रों पर ध्यान करना अनिवार्य है। यदि सभी पर ध्यान करने का समय न हो तो आनन्द या विशुद्धि केन्द्र से ही ध्यान शुरू किया जाता है, नीचे के केन्द्रों को छोड़ दिया जाता है।

## प्रयोग

१. **शक्ति-केन्द्र**- चित्त को शक्ति-केन्द्र-पृष्ठरज्जु के निचले सिरे पर केन्द्रित करें। वहां होने वाले प्राण के प्रकम्पनों का अनुभव करें। केवल शक्ति-केन्द्र के प्रति पूर्ण जागरूक रहें। पूरी एकाग्रता बनी रहे।

२. **स्वास्थ्य केन्द्र**- चित्त को स्वास्थ्य केन्द्र- पेड़ के मध्य भाग पर केन्द्रित करें। आगे से पीछे सुषुम्ना तक चित्त को पूरे भाग में फैलाएं। वहां पर होने वाले प्राण के प्रकम्पनों का अनुभव करें।

३. **तैजस केन्द्र**- चित्त को तैजस केन्द्र- नाभि के स्थान पर केन्द्रित करें। आगे से पीछे सुषुम्ना तक चित्त को फैलाएं। जैसे टॉर्च का प्रकाश सीधी रेखा में फैलता है, वैसे ही चित्त के प्रकाश को सीधी रेखा में पीछे तक फैलाएं। पूरे भाग में होने वाले प्राण के प्रकम्पनों का अनुभव करें। गहरी एकाग्रता के साथ अनुभव करें, जिससे स्वतः ही श्वास-संयम हो जाए।

४. **आनन्द केन्द्र**- चित्त को आनन्द केन्द्र- हृदय के पास (दोनों फुफ्फुस के बीच में) जो गढ़ा है, वहां पर केन्द्रित करें। आगे से पीछे तक टॉर्च



के प्रकाश की भांति चित्त के प्रकाश को पूरे भाग में फैलाएं और वहां पर होने वाले प्राण के प्रकम्पनों का अनुभव करें। बीच-बीच में श्वास-संयम करें।

५. विशुद्धि-केन्द्र- चित्त को विशुद्धि केन्द्र- कण्ठ के मध्य भाग पर केन्द्रित करें। आगे से पीछे सुषुम्ना-शीर्ष तक चित्त के प्रकाश को फैलाएं। पूरे भाग में होने वाले प्राण के प्रकम्पनों का अनुभव करें। बीच-बीच में श्वास-संयम का प्रयोग करें।

६. ब्रह्म केन्द्र- चित्त को ब्रह्म केन्द्र- जीभ के अग्र भाग पर केन्द्रित करें। जीभ अधर में रहे। वहां पर होने वाले प्राण के प्रकम्पनों का अनुभव करें।

७. प्राण केन्द्र- चित्त को प्राण केन्द्र- नासाग्र पर केन्द्रित करें। वहां पर होने वाले प्राण के प्रकम्पनों का अनुभव करें।

८. अप्रमाद केन्द्र- चित्त को अप्रमाद केन्द्र- दोनों कानों पर- भीतरी, मध्य और बाहरी भाग पर तथा आस-पास के भाग पर केन्द्रित करें। वहां पर होने वाले प्राण के प्रकम्पनों का अनुभव करें।

९. चाक्षुष केन्द्र- चित्त को चाक्षुष केन्द्र- दोनों आंखों के भीतर केन्द्रित करें। वहां पर होने वाले प्राण के प्रकम्पनों का अनुभव करें।

१०. दर्शन केन्द्र- चित्त को दर्शन केन्द्र- दोनों आंखों और भ्रुकुटियों के बीच केन्द्रित करें। भीतर गहराई में चित्त को ले जाएं। आगे से पीछे-मस्तक के पीछे की दीवाल तक पूरे भाग में चित्त के प्रकाश को फैला दें। वहां पर होने वाले प्राण के प्रकम्पनों का अनुभव करें। गहरी एकाग्रता और सजगता के साथ प्रेक्षा करें। बीच-बीच में श्वास-संयम का प्रयोग करें।

११. ज्योति केन्द्र- चित्त को ज्योति केन्द्र- ललाट के मध्य भाग पर केन्द्रित करें। भीतर गहराई में चित्त को ले जाएं। आगे से पीछे मस्तक की दीवाल तक पूरे भाग में चित्त के प्रकाश को फैला दें। पूरे भाग में होने वाले प्राण के प्रकम्पनों का अनुभव करें। बीच-बीच में श्वास-संयम का प्रयोग करें।

१२. शांति केन्द्र- चित्त को शांति केन्द्र- सिर के आगे के भाग में केन्द्रित करें। जैसे दीये का प्रकाश चारों दिशाओं में फैलता है, वैसे ही चित्त के प्रकाश को शांति केन्द्र पर फैलाएं और उसे गहरे तक ले जाएं। वहां पर होने वाले प्राण के प्रकम्पनों का अनुभव करें।

१३. ज्ञान केन्द्र- चित्त को ज्ञान-केन्द्र- सिर के ऊपर के भाग, चोटी के स्थान पर केन्द्रित करें। दीये के प्रकाश की भांति पूरे भाग में चित्त के

प्रकाश को फैलाएं। भीतर गहरे तक ले जाएं। वहां पर होने वाले प्राण के प्रकम्पनों का अनुभव करें।

अब एक साथ सभी चैतन्य केन्द्रों की प्रेक्षा करें। जो खड़े-खड़े कर सकते हैं, वे खड़े-खड़े करें। चित्त को शक्ति केन्द्र पर ले जाएं, फिर क्रमशः स्वास्थ्य केन्द्र, तैजस केन्द्र, आनन्द केन्द्र आदि सभी केन्द्रों पर होते हुए पुनः शक्ति केन्द्र पर ले आएँ। वृत्ताकार में सभी चैतन्य केन्द्रों पर चित्त की यात्रा चले। तेजी के साथ चित्त को सभी चैतन्य केन्द्रों पर घुमाएं और सभी केन्द्रों पर होने वाले प्राण के प्रकम्पनों का अनुभव करें।

## अभ्यास द्वितीय : प्राणायाम

### १. पुनरावर्तन

प्रथम वर्ष में किए गए निम्नलिखित प्रयोगों का पुनः अभ्यास करें—

१. प्राणायाम के प्रकार और प्रक्रिया।
२. सूयभेदी प्राणायाम।
३. चन्द्रभेदी प्राणायाम।
४. अनुलोम-विलोम (समवृत्ति) प्राणायाम।

### विशेष सावधानियां

१. गंदे, दूषित वातावरण में प्राणायाम न करें।
२. तेज वायु में प्राणायाम न करें।
३. बिस्तर में मुंह ढककर प्राणायाम न करें।
४. भोजन के पश्चात् दो घण्टे तक प्राणायाम न करें।
५. सहज प्राणायाम किसी भी समय किया जा सकता है।
६. प्राणायाम करते समय पद्मासन एवं सिद्धासन उत्तम आसन हैं।
७. प्राणायाम से पूर्व जठर, आंत एवं मूत्राशय को खाली कर लें।
८. आसन के पश्चात् प्राणायाम करें।
९. शरीर को शिथिल एवं मुखाकृति को शांत एवं प्रतिक्रिया-रहित रखें। शरीर के किसी अवयव पर तनाव न आए।
१०. प्राणायाम का अभ्यासी धूम्रपान एवं अन्य उत्तेजक द्रव्यों का सेवन न करे।
११. प्राणायाम-अभ्यासी बलपूर्वक श्वास-प्रश्वास की क्रिया न करे। कुम्भक अभ्यास क्रमिक बढ़ाना चाहिए, एक साथ नहीं।

### २. उज्जाई प्राणायाम

#### विधि :

पद्मासन, सुखासन आदि किसी भी सुविधाजनक आसन में सुखपूर्वक

स्थिरता से बैठें। जिह्वा के आग्रभाग को मोड़कर तालू से सटा दें, जैसा कि खेचरी मुद्रा में किया जाता है। स्वर यन्त्र से श्वास को गले से स्पर्श करता हुआ खींचें। श्वास-प्रश्वास करते समय मधुर ध्वनि कानों को स्पष्ट सुनाई दे। श्वास/पूरक/प्रश्वास/रेचक/धीरे-धीरे शांत भाव से हो। मन्त्र जाप के समय इसका प्रयोग किया जा सकता है। जैसे सो हं। अ हं। श्वास भरकर (पूरक) जालंधर बन्ध लगाएं।

**समय :**

तीन मिनट से आधा घण्टा तक समय की सुविधानुसार किया जा सकता है।

**लाभ :**

रक्तचाप का शमन करता है। नाड़ी संस्थान को शक्तिशाली बनाता है। स्वर मधुर होता है। चिन्ता-नाशक और चित्त की स्थिरता को बढ़ाने वाला है। साधना में गति करने वाले जालन्धर बन्ध के साथ करके लम्बे समय पर निर्विचार की स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं। श्लेष्म रोग नष्ट होता है। दूषित वायु, अजीर्ण, आमवात, क्षय, कांस, ज्वर, प्लीहा आदि रोग दूर होते हैं। सम्पूर्ण शरीर में शक्ति का संचार होता है। टॉन्सिल, खांसी एवं जुकाम की विकृतियां दूर होती हैं।

### ३. शीतली प्राणायाम

पद्मासन, सुखासन आदि किसी सुविधा एवं सुखपूर्वक ठहरने वाले आसन का प्रयोग करें। हाथ घुटनों पर चिन्मय मुद्रा में रखें। जीभ को मुख से बाहर निकाल कर कौए की चोंच के समान बनाएं। जीभ के किनारों को मोड़कर गोलाकार बनाने से पोली नली सी बन जाती है। इस पोली नली से श्वास को धीरे-धीरे अन्दर लें। फेफड़े पूरे भरें। तनुपट का दबाव नाभि तक जाए।

श्वास को कुंभक कर रोकें। जितना आराम से हो सके, अधिक से अधिक समय तक श्वास संयम (कुंभक) करें। फिर दोनों नासिकाओं से धीरे-धीरे प्रश्वास करें।

**समय :**

एक मिनट से लेकर पांच मिनट करें। विशेष रोग या गर्मी से शमन के लिए समय को बढ़ाया जा सकता है। यह शीतलता बढ़ाता है, पित्त को शमित करता है। इसे ग्रीष्म ऋतु में किया जाता है। पित्त प्रकृति वाले स्वयं की स्थिति को देखकर या निर्देश से सर्दी में भी कर सकते हैं।

**लाभ :**

पित्त विकार दूर करता है। प्यास बुझाता है। पित्त-विकार से उत्पन्न रोगों को शांत करता है। रक्तचाप उपशांत करता है। कांति, शांति और शीतलता को बढ़ाता है।



#### ४. भ्रामरी प्राणायाम

भंवरे की तरह गुंजन होने से इसे भ्रामरी प्राणायाम कहा गया है। भ्रामरी प्राणायाम नादानुसंधान की दृष्टि से उपयोगी है

**विधि :**

पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि किसी आसन में सुखपूर्वक स्थिरता से बैठें। मेरुदण्ड को सीधा एवं गर्दन को समस्थिति में रखें। दाएं हाथ का अंगूठा दाएं नथुने पर रखें, लेकिन बन्द न करें। पूरक करें, श्वास को धीरे-धीरे ग्रहण करें। दाहिने नथुने को अंगूठे से दबाए रखें। कुछ क्षण रोककर वायु को फेफड़े, कण्ठ और गले से स्पर्श करते हुए बाहर रेचन करें।

श्वास भरते और छोड़ते हुए चित्त को गले पर केन्द्रित रखें। गले से भंवरे के गूंजने की तरह ध्वनि करते हुए श्वास-प्रश्वास की क्रिया करें।

**समय :**

नौ प्राणायाम से प्रारंभ कर २७ तक धीरे-धीरे बढ़ाएं।

**लाभ :**

भ्रामरी प्राणायाम से स्वरों की मधुरता होती है। वाणी के उच्चारण की स्पष्टता एवं श्वास दीर्घ तथा सूक्ष्म होने लगती है।



## अभ्यास तृतीय : यौगिक क्रियाएं

### स्वाभाव परिष्कार के लिए मेरुदण्ड की क्रियाएं

मेरुदण्ड शरीर में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। मेरुदण्ड का लचीलापन स्वस्थता का लक्षण है। स्वस्थ व्यक्ति का मेरुदण्ड सीधा और लचकदार होता है। मेरुदण्ड के पार्श्व में ईड़ा, पिंगला आदि सहस्रों नाड़ियां होती हैं। मेरुदण्ड सुदृढ़ होने से व्यक्ति की चेतना को विकसित होने का अवसर मिलता है। मेरुदण्ड की लचक केवल स्वास्थ्य के लिए ही वरदान नहीं है, अपितु वह सुन्दर स्वभाव और साधना की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

ये क्रियाएं सरल सहज लगती हैं। सहज लगने वाली क्रियाएं ही जीवन को सर्वाधिक प्रभावित करती हैं। मेरुदण्ड की सुघड़ता को लक्ष्य कर इन क्रियाओं का चयन किया गया है। मेरुदण्ड की स्वस्थता स्मृति, विचार, चिन्तन और स्वभाव को प्रभावित करती है। स्वाभाव, विचार और चिन्तन के परिष्कार के लिए मेरुदण्ड की क्रियाओं पर ध्यान देना आवश्यक है।

मेरुदण्ड के अन्तिम छोर पर शक्ति केन्द्र है और मस्तक की चोटी के (ऊपर) स्थान पर ज्ञान केन्द्र है। शक्ति और ज्ञान के विकास के लिए मेरुदण्ड की स्वस्थता सक्रियता अपेक्षित है। ईड़ा, पिंगला और सुषुम्ना में प्राण का प्रवाह सम्यक् रूप से होने लगता है। प्राण का प्रवाह सम्यक् प्रकार होने से व्यक्तित्व के विकास में अपेक्षित सहयोग मिलता है।

मेरुदण्ड का सीधा रहना ध्यान के लिए आवश्यक है। मेरुदण्ड सीधा रहता है तो प्राण का प्रवाह सुषुम्ना में सहजता से होने लगता है। मेरुदण्ड की क्रियाएं पेट, गर्दन व कटि में ठहरे हुए विष को निकालने में सहयोगी बनती हैं। मेरुदण्ड क्रियाओं को सरलता से सब आबाल वृद्ध कर सकते हैं।

### मेरुदण्ड की क्रियाएं

#### शरीर की स्थिति

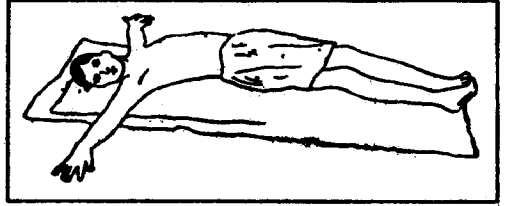
भूमि पर पीठ के बल लेटें। दोनों पैर सीधे रखें। हाथों को कंधे के समानान्तर सीधे फैलाएं। हथेलियां भूमि को स्पर्श करें।

### पहली क्रिया

स्थिति—दोनों पैरों के मध्य अपने पांव तल की लम्बाई जितनी दूरी रखें।

(१) पूरक करते हुए बाएं पैर के अंगूठे को दायीं एड़ी से स्पर्श करें। दायीं ओर करवट लें। गर्दन बायीं ओर घुमाएं। श्वास को रेचन करते हुए पूर्व स्थिति में आ जाएं।

(२) पूरक कर दाएं पैर के अंगूठे को बायीं एड़ी से स्पर्श करते हुए बायीं ओर करवट लें। गर्दन दायीं ओर घुमाएं। श्वास का रेचन करते हुए मूल स्थिति में आ जाएं।

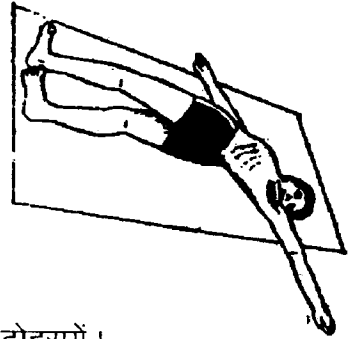


### दूसरी क्रिया

शरीर की स्थिति पूर्ववत् रहेगी।

दूसरी क्रिया की स्थिति—दाहिने पैर को सीधा ऊपर उठाकर एड़ी को बाएं पैर के अंगूठे और पास वाली अंगुलियों के बीच स्थापित करें।

(१) पूरक कर दोनों पैरों के पंजों को दाहिनी ओर ले जाकर भूमि को स्पर्श करें। शरीर दाहिनी ओर करवट लेगा, गर्दन बायीं ओर घुमाएं। रेचन करते हुए पूर्व स्थिति में आ जाएं।



(२) पूरक कर दोनों पैर बायीं ओर ले जाकर भूमि को स्पर्श करें। शरीर बायीं ओर करवट लेगा, गर्दन को दाहिनी ओर घुमाएं। रेचन करते हुए मूल स्थिति में आ जाएं।

नोट—इस क्रिया को पैर बदलकर भी दोहरायें।

### तीसरी क्रिया

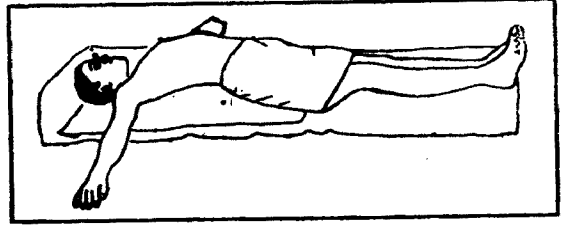
शरीर की स्थिति पूर्ववत् रहेगी।

तीसरी क्रिया की स्थिति—बाएं पैर के टखने पर दाएं पैर के टखने को स्थापित करें।

(१) पूरक कर दोनों पैरों को बायीं ओर घुमाकर पैर को भूमि से स्पर्श कराएं। शरीर बायीं ओर करवट लेगा, गर्दन को दाहिनी ओर घुमाएं। रेचन करते हुए पूर्व स्थिति में आ जाएं।



(२) पूरक कर पैर को दाहिनी ओर भूमि से स्पर्श कराएं। पूरा शरीर दाहिनी ओर करवट लेगा, गर्दन बायीं ओर घुमाएं। रेचन करते हुए मूल स्थिति में आ जाएं।



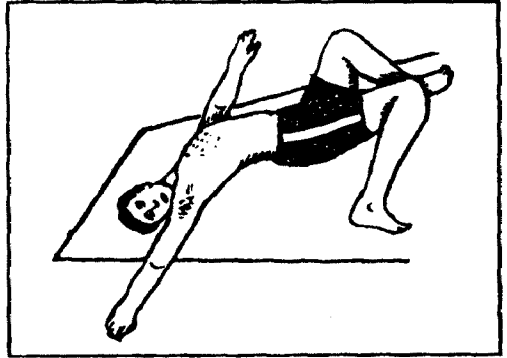
नोट—इस क्रिया को दूसरे पैर से भी दाहराएं।

### चौथी क्रिया

शरीर की स्थिति पूर्ववत् रहेगी।

चौथी क्रिया की स्थिति—बाएं पैर को सीधा रखें दाएं पैर को मोड़कर पांव तल को घुटने के पास स्थापित करें।

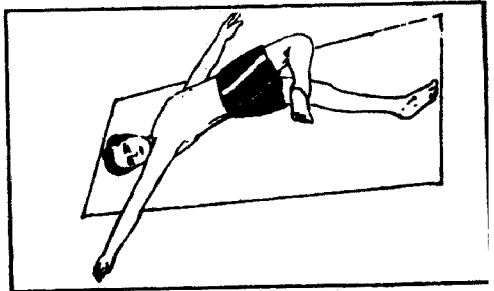
(१) पूरक कर बाएं पैर के ऊपर से दाएं घुटने को बायीं ओर भूमि से स्पर्श कराएं। दाहिना कन्धा बाईं ओर करवट लेगा, गर्दन को दाहिनी ओर घुमाएं। रेचन करते हुए पूर्व स्थिति में आ जाएं। दाएं पैर को सीधा रखें। बाएं पैर को पूरक करते हुए दाहिने पैर के ऊपर से बाएं पैर के घुटने को भूमि से स्पर्श करायें। रेचन करते हुए मूल स्थिति में आ जाएं।



### पांचवीं क्रिया

स्थिति—दोनों पैरों के घुटनों को मोड़ें पैरों के बीच इतना फासला रहे कि एक पैर का घुटना दूसरे पैर की तली में ला सकें।

(१) पूरक करते हुए दायें पैर के घुटने को बायें पैर की तली में लगाएं। शरीर बायीं ओर करवट लेगा, गर्दन दायीं ओर घुमाएं। फिर श्वास छोड़ते हुए पूर्व स्थिति में आ जाएं।



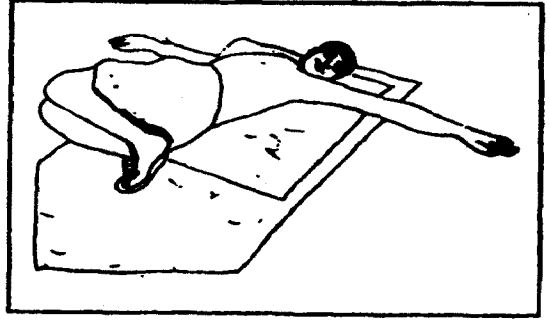
(२) अब पूरक करते हुए बायें पैर के घुटने को दायें पैर की तली में लगाएं। शरीर दायीं ओर करवट लेगा, गर्दन बायीं ओर घुमाएं। वापिस श्वास छोड़ते हुए पूर्व स्थिति में आ जाएं।

### छठी क्रिया

शरीर की स्थिति पूर्ववत् रहेगी।

छठी क्रिया की स्थिति—दोनों पैर के घुटनों को मोड़ कर पांव तल भूमि पर सीधा रखें, ध्यान रहे पैर नितम्बों से सटे रहे।

(१) पूरक कर दोनों घुटनों को बाईं ओर भूमितल की ओर ले जाएं, शरीर भी बायीं ओर करवट लेगा। गर्दन दाईं ओर घुमाएं। रेचन करते हुए पूर्व स्थिति में आ जाएं।



(२) पूरक कर दोनों घुटनों को दाहिनी ओर भूमि से स्पर्श कराएं, शरीर दाहिनी ओर करवट लेगा। गर्दन बाईं ओर घुमाएं, रेचन करते हुए मूल स्थिति में आ जाएं।

### सातवीं क्रिया

शरीर की स्थिति पूर्ववत् रहेगी।

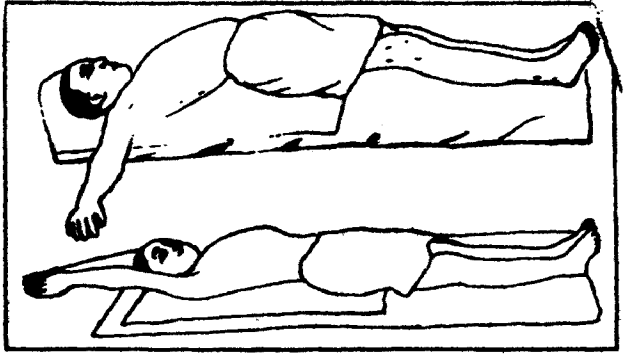
पूरक कर कमर की ओर नितम्ब के भाग को भूमि से ऊपर उठाकर त्वरित गति से भूमि पर गिराएं। रेचन करें। इस क्रिया को तीन बार दोहराएं, फिर कायोत्सर्ग की मुद्रा में आ जाएं।



एड़ी से लेकर कन्धे तक शरीर को ऊपर उठाएं। एक साथ त्वरित गति से भूमि पर गिरायें।

### आठवीं क्रिया

पीठ के बल लेटें। हाथों को सिर की ओर फैलाकर श्वास भरें। बायीं ओर शरीर को गोलाकार घुमाएं। श्वास छोड़कर पीठ के बल साथ ले जाएं। श्वास भरकर दायीं ओर शरीर को गोलाकार बैलन की तरह घुमाएं। श्वास का

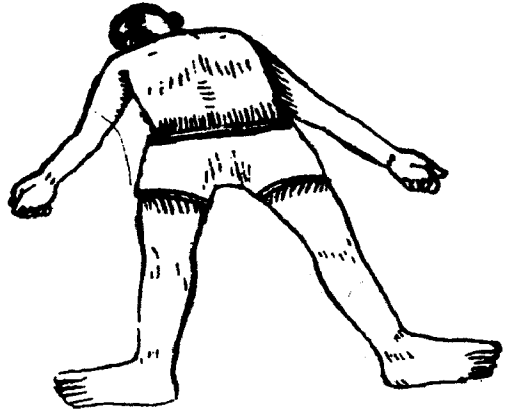


रेचन कर पीठ के बल लेंटे। शरीर शिथिल छोड़ दें। क्रिया की पांच आवृत्ति करें। सम्पूर्ण शरीर की इससे मालिश हो जाती है। पेट, सीने एवं कमर की विकृतियां दूर होती हैं।

**लाभ**—सम्पूर्ण शरीर की इससे मालिश हो जाती है। पेट, सीने एवं कमर की विकृतियां दूर होती हैं।

### कायोत्सर्ग की मुद्रा

पीठ के बल सीधे लेटें। चित्त को श्वास पर केन्द्रित करें। मंद-मंद श्वास-प्रश्वास लें। शरीर को शिथिल छोड़ दें। आंखें कोमलता से मूंद लें। दोनों पांव के बीच एक फुट का फासला रखें। हथेलियां आकाश की ओर शरीर के समानांतर फैला दें। प्रत्येक अवयव में शिथिलता का अनुभव करें।



**नोट** : तृतीय पत्र का अवशिष्ट प्रायोगिक 'अहिंसा-अणुव्रत : सिद्धान्त और प्रयोग', जो द्वितीय पत्र के लिए स्वीकृत है, में दिया गया है।



जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)